नवम्बर 2014 ❐ मूल्य : 20 रुपए

सामयिक वार्ता

सबको समान मुफ्त शिक्षा

हमारे अशोक जी नहीं रहे

इल्म बड़ी दौलत है

इल्म बड़ी दौलत है ।
तू भी स्कूल खोल ।
इल्म पढ़ा ।
फीस लगा ।
दौलत कमा ।
फीस ही फीस ।
पढ़ाई के बीस ।
बस के तीस ।
यूनिफार्म के चालीस ।
खेलों के अलग ।
वेरायटी प्रोग्राम के अलग ।
पिकनिक के अलग ।
लोगों के चीखने पर न जा ।
दौलत कमा ।
उससे और स्कूल खोल ।
उनसे और दौलत कमा ।
कमाए जा, कमाए जा ।
अभी तो तू जवान है ।
यह सिलसिला जारी है ।
जब तक गंगा - जमना है ।
पढ़ाई बड़ी अच्छी है ।
पढ़ ।
बहीखाता पढ़ ।
टेलीफोन डाइरेक्टरी पढ़ ।
बैंक - असिसमेंट पढ़ ।
जरूरते-रिश्ता के इश्तेहार पढ़ ।
और कुछ मत पढ़ ।
मीर और ग़ालिब मत पढ़ ।
इकबाल और फैज़ मत पढ़ ।
इब्ने इंशा को भी मत पढ़ ।
वरना तेरा बेड़ा पार न होगा ।
और हममें से कोई नताएज* का जिम्मेदार न होगा ।

– इब्ने इंशा

---

* नतीजे का बहुवचन नताएज

[इब्ने इंशा पाकिस्तान में उर्दू के जाने-माने कवि व लेखक थे । इनका जन्म 15 जून 1927 को पंजाब , पाकिस्तान में हुआ था और 11 जनवरी 1978 को इनका देहांत हुआ । इब्ने इंशा की ख़ास पहचान इनकी लेखनी की तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता रही है चाहे वह कविता हो, कहानी हो या फिर यात्रा संस्मरण ।
स्रोत – 'तालीम की लड़ाई ' (अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच का त्रैमासिक प्रकाशन) ,
संपर्क – talim.ki.ladai@gmail.com]

नवम्बर 2014 वर्ष 38 अंक 3-4

कार्यालय
द्वारा मुखर्जी बुक डिपो
पांडेय हवेली, वाराणसी-221005
फोन : 0800408523 (संपादन)
08765811730 (प्रबंध)
e-mail- varta3@gmail.com

सदस्यता शुल्क
वार्षिक शुल्क : 150/-
संस्थागत वार्षिक शुक्ल : 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-
आजीवन शुल्क : 2000/-

इस अंक में

संपादकीय

मोदी और संघ का अभिशप्त अतीत

हरियाणा और महाराष्ट्र विधानसभा चुनावों के परिणाम लोकसभा के चुनाव की मोदी–लहर के परिशिष्ट ही थे। लोकसभा के चुनाव का साफ दिखनेवाला मायने यह था कि देश की जनता राजनीति में कांग्रेस और नेहरू–गाँधी परिवार से निजात पाना चाहती है। इसीलिए सभी राज्यों में जहाँ कांग्रेस का शासन था, लोकसभा के चुनाव में मोदी का करिश्मा दिखलाई पड़ा और भाजपा ने अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की। लेकिन उन राज्यों में, जहाँ वर्चस्व किसी दूसरे गैरकांग्रेसी दल का था –– यानी कांग्रेस का मजबूत विकल्प था –– वहां भाजपा को कोई सफलता नहीं मिली। प० बंगाल में ममता बनर्जी की तृणमूल कांग्रेस आगे रही, त्रिपुरा में माकपा का वर्चस्व बना रहा और ओड़िशा में बीजू जनता दल को भारी सफलता मिली। दक्षिण में तमिलनाडु और आंध्र में भी मोदी–लहर देखने को नहीं मिली। केरल में यथास्थिति बनी रही। उत्तर प्रदेश, जहाँ भाजपा के पुराने जनाधार पर बहुजनसमाज पार्टी और समाजवादी पार्टी ने कब्जा कर लिया था, वहां लोक सभा के चुनाव में भाजपा की धमाकेदार वापसी हुई, लेकिन विधानसभा उप चुनावों में समाजवादी पार्टी ने अपनी पकड़ बनाए रखी। लोकसभा–चुनाव में भाजपा की धमाकेदार वापसी और विधानसभा चुनावों में उसकी असफलता से यही प्रकट होता है कि लोकसभा के परिणाम मूलतः राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस के विकल्प की तलाश के परिणाम थे, वे भी नीतिगत बदलाव से ज्यादा एक शासक समूह और उसके काम की तर्ज के खिलाफ।

कांग्रेस और भाजपा की आर्थिक नीतियों में कोई विशेष फर्क नहीं है। दोनों ही वैश्विक पूंजीवाद और उन्मुक्त अर्थव्यवस्था की समर्थक हैं। लेकिन लंबे अनुभव से सत्ता के खेल में माहिर कांग्रेस के नेता यह भी जानते हैं कि इस विशाल देश में उन्मुक्त पूंजी के वर्चस्व को कायम रखने के लिए कुछ 'सेफ्टीवाल्व' यानी जनता के आक्रोश को निरस्त करने की नीति का होना जरूरी है, इसीलिए परिस्थिति के दबाव में 'मनरेगा' या भूमि अधिग्रहण कानूनों में किसानों को तुष्ट करने लायक मुआवजे के प्रावधान किए गए थे। स्थानीय और अंतरराष्ट्रीय दबाव में पर्यावरण की सुरक्षा के कुछ नियम भी बनाए गए थे। यह बात दीगर है कि बड़े औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के दबाव में इन पर अमल प्रायः आधे मन से ही होता था। लेकिन इन बंदिशों से मुक्ति की छटपटाहट भी बनी रही और मनमोहन सिंह औद्योगिक घरानों को राहत पहुंचाने को हरदम तत्पर रहे। 27 फरवरी, 2014 के अंगरेजी दैनिक 'हिंदू' की एक रपट के अनुसार प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के कार्यालय से बार–बार ऐसे आदेश दिए जाते थे, जिनमें पर्यावरण संबंधी नियमों को नजरअंदाज करने को कहा जाता था। इस रपट के अनुसार वन सुरक्षा संबंधी नियमों में ढील देने में त्वरित कारवाई के भी आदेश दिए गए थे। पर्यावरण और वन सुरक्षा संबंधी नियमों को नजरअंदाज करने की यह नीति नरेंद्र मोदी की 'मेक इन इंडिया' मुहिम के लिए वरदान सिद्ध होगी। शायद धीरे–धीरे ऐसे सारे अवरोध खत्म कर दिए जाएंगे।

'मेक इन इंडिया' से मिले संकेत से उत्साहित होकर औद्योगिक घरानों की ओर से यह मुहिम तेज हो गई है कि चीन की तरह श्रम कानून सख्त किए जाएं, मजदूरों की छंटनी आसान हो और काम की स्थितियाँ ऐसी हों, जिनमें ज्यादा से ज्यादा काम करवाया जा सके। कुल मिला कर ऐसा लगता है कि मोदी सरकार कांग्रेस की कारपोरेटधर्मी नीतियों को ही अधिक कारगार ढंग से लागू करेगी। मनमोहन सिंह की उन्मुक्त बाजारवादी और वैश्वीकरण की नीतियाँ नरेंद्र मोदी के लिए यूपीए सरकार से वसीयत में मिला सबसे कीमती तोहफा है। इन नीतियों को लागू करने में किसानों, आदिवासियों और श्रमिकों के प्रतिरोध को मोदी सरकार पुलिसतंत्र और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की मदद से दबाने की कोशिश कर सकती है। इस दिशा में जैसा कि पिछले दिनों दिखाई दिया है 'लव जिहाद' जैसे नारों या धर्मांतरण के विरोध के नाम पर संघर्षशील समूहों की एकता को सांप्रदायिक आधार पर तोड़ने की कोशिश भी हो सकती है।

नरेंद्र मोदी के प्रधानमंत्री बनने के साथ–साथ

मुख्यमंत्री और कुछ दूसरे जवाबदेही के पदों पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्व प्रचारकों को बिठाया गया है। जिन राज्यों में अभी तक भाजपा का जनाधार व्यापक नहीं था –– जैसे प0बंगाल और ओड़िशा –– वहां भाजपा आक्रामक तेवर के साथ फैलने की कोशिश कर रही है। सरकारी नजर से देखने पर तो फिलहाल सब कुछ नरेंद्र मोदी और भाजपा के लिए उत्साहवर्धक है। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन की गौरवशाली परंपरा की निरंतरता में भाजपा की उपस्थिति एक बड़ी फांक है। इससे मोदी सरकार के सामने जनमानस में अपनी नैतिक स्वीकार्यता (लेजिटिमेसी) प्रमाणित करने की मनोवैज्ञानिक समस्या बनी रहेगी।

राष्ट्रीय आजादी का संघर्ष मूलतः कांग्रेस और उससे जुड़े हुए किसान, मजदूर आंदोलनों से संपृक्त था। गोखले और तिलक से शुरू हो आजादी की चेतना का सबसे गौरवशाली युग 1919–20 में शुरू हुआ, जब कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गाँधी के हाथों में आया। उनकी छत्रछाया में सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू, आचार्य कृपलानी, सुभाषचन्द्र बोस, आचार्य नरेंद्रदेव, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया आदि भिन्नता के बावजूद अपनी विशिष्ट प्रतिभाओं से राष्ट्रीय आंदोलन को समृद्ध करते रहे। इस आंदोलन का मूल स्वर समावेशी था, जिसमें देश के विभिन्न धर्मों और मूलों के लोगों को राष्ट्रीय धारा से जोड़ने का आग्रह था।

इसके विपरीत राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ बहुसंख्यक समुदाय (हिन्दुओं) के वर्चस्व को देश पर लादने का आग्रही था। उसके आदर्श 1930 के दशक में जर्मनी में प्रभुत्व कायम करनेवाली नात्सी पार्टी और हिटलर थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मूल सैद्धांतिक ग्रंथ गोलवलकर का 'वी एंड आवर नेशनहुड डिफाइंड' कहता है कि 'नस्ल और उसकी संस्कृति की शुद्धता बनाए रखने के लिए देश से सामी (सेमेटिक) लोगों का सफाया कर जर्मनी ने दुनिया को स्तब्ध कर दिया। वहां नस्ल के गौरव की उच्चतम अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। जर्मनी ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि उन नस्लों और संस्कृतियों को, जिनकी जड़ें भिन्न हैं, एक करना कैसे असंभव है। इससे हम हिंदुस्तानियों को सबक लेकर लाभ उठाना चाहिए।'

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का फैलाव सबसे अधिक 1942 से 1945 के दौरान हुआ, जब ज्यादातर राष्ट्रभक्त जेल में थे या ब्रिटिश हुकूमत का विरोध करते हुए ब्रिटिश दमन का शिकार हो रहे थे। 1946 से 1948 तक का काल रा.स्व. संघ की सर्वाधिक गतिविधियों का काल रहा। इस समय देश सांप्रदायिक दंगों की आग में झुलस रहा था। दंगों में हिस्सेदारी से संघ ने एक संप्रदाय में काफी लोकप्रियता हासिल की। इसी माहौल में कभी रा.स्व. संघ से जुड़े एक उन्मादी नाथूराम गोडसे ने 30 जनवरी 1948 को महात्मा गाँधी की हत्या कर दी। आजादी के बाद रा.स्व. संघ ने हिंदू कोड बिल, भाषाई राज्य जैसे महत्वपूर्ण कदमों का विरोध किया। गुजरात में स्वयं मोदी का शासनकाल सांप्रदायिक दंगों से कलुषित रहा है।

अभी नरेंद्र मोदी जो मुहिम चला रहे हैं वह वस्तुतः राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और स्वयं अपने अतीत के काले धब्बों को धोने का ही प्रयास है। अगर इसके साथ पश्चाताप का भाव है तो वह स्वागत योग्य है। गाँधी को केंद्र में रखकर स्वच्छता अभियान और पूर्व प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के जन्मदिन 14 नवंबर से इंदिरा गाँधी के जन्मदिन 19 नवंबर तक विशेष तौर से इस मुहिम में शामिल होने की अपील, अपने संगठन के अतीत से पिंड छुड़ाने का प्रयास ही लगता है। यों तो आजादी के बाद जन्मे मोदी के लिए रा0स्व0 संघ के शर्मनाक अतीत से अपने को अलग करना बहुत मुश्किल नहीं होगा, लेकिन रा0स्व0 संघकी, जिसके वह प्रचारक थे, सारी परंपरा और उससे जुड़ी संत–महंतों की टोली से क्या मोदी छुटकारा पा सकते हैं ?चुनाव के मौके पर यह टोली सांप्रदायिक ध्रुवीकरण कर वोट बटोरती है। मोदी के लिए इस पहलू को नजरअंदाज करना मुश्किल होगा। इसके लिए मोदी को एक नई भूमिका गढ़नी होगी।

वैसे तो कारपोरेट भारत के लिए सांप्रदायिक सद्भाव सुविधाजनक होगा। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि फासिस्ट इटली और नात्सी जर्मनी में कारपोरेट जगत ने अपने को पूरी तरह नफरत आधारित अधिनायकवाद के साथ जोड़ लिया था। मोदी का गाँधी को अपनी मुहिम के साथ जोड़ना एक बड़ा चुनौती भरा काम है। या तो उन्हें गाँधी को छोड़ना होगा या अपने अतीत से पूरी तरह हट कर अपने लिए एक नई दिशा गढ़नी होगी। देखना है मोदी इस चुनौती से कैसे निपटते हैं।

––सच्चिदानंद सिन्हा

नजरिया

अफ्सपा के विरोध में आंदोलन जरूरी

हमारे देश के आजादी के आंदोलन की एक बड़ी दीक्षा यह थी कि उसने हमें हर प्रकार के दमन और मानव अधिकारों और उल्लंघन के प्रति सचेत होना और उसका विरोध करना सिखाया था। जब हम गुलाम थे तब दुनिया में कहीं भी दमन होता था तो उसका हम विरोध करते थे, लेकिन आजादी के बाद यह स्थिति पलटते-पलटते इतनी उलट गई है कि अब अपने देश के ही लोगों के दमन के प्रति उदासीन ही नहीं हो गए हैं, सरकारी देश-प्रेम के नाम पर उसके पक्षधर तक हो गए हैं।

हमारी सेना के अफसर और जवान सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अधिनियम, 1958 (आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पॉवर एक्ट) अफ्सपा का फायदा उठाकर कश्मीर और उत्तर पूर्व में पिछले 56 वर्षों से दमन और अत्याचार करते आ रहे हैं। देश की अखंडता के नाम पर किसी भी आंदोलन को अलगाववादी बताकर हमारी सरकारों ने दमन और हर प्रकार के अत्याचार करने की छूट प्राप्त कर ली है। 1977 तक जनता पार्टी की सरकार गठित न होने तक हमारा प्रेस कश्मीर और उत्तर पूर्व में सेना के अत्याचार की खबरें और रिपोर्ट नहीं छापता था। जनता पार्टी की असफलता के बावजूद उसकी सरकार के राज में प्रेस को नए सिरे से आजादी मिली और पहली बार देश में कश्मीर और उत्तर पूर्व में मानव अधिकारों के उल्लंघन के बारे में खबरें और रिपोर्टें छपने लगीं। प्रेस और नए माध्यम टेलीविज़न पर कारपोरेट क्षेत्र के बढ़ते वर्चस्व के बावजूद वह आजादी अब तक घिसटती हुई चली आ रही है। मोदी की जयजयकार के शोर के बीच कब वह तूती की आवाज बन जाए, कौन जानता है ?

इस 7 नवंबर को सेना ने एक कश्मीरी युवक और एक 14 वर्षीय किशोर को भूल से गोली चला कर मार डालने और मुआवजे के तौर पर प्रत्येक के परिवार को दस लाख रु. देने की घोषणा की है। सेना के उत्तरी कमांड के प्रधान ले0ज0 डी0एस0 हुदा ने कहा कि इस घटना की जांच की जा रही है और यह मामला सशस्त्र बल अधिनियम के दायरे में नहीं आता। क्या आता है ? क्या अधिनियम के न रहने पर निहत्थे युवाओं को गोली से भूनना इतना आसान होता ?

छह दिन बाद 13 नवंबर की दो खबरें तो एकदम सन्न कर देनेवाली है। पहली खबर यह है कि सेना ने इस दिन एक कमांडिंग अफसर, एक मेजर और पाँच जवानों को जम्मू-कश्मीर के मछिल में 2010 में एक फर्जी मुठभेड़ में तीन लोगों को मार डालने के अपराध में कोर्ट मार्शल कर आजीवन कारावास की सजा दिए जाने की घोषणा की। फर्जी मुठभेड़ की इस घटना के विरोध में पाँच अप्रैल से अक्टूबर 2010 तक प्रदर्शन होते रहे। इन पाँच महीनों के दौरान सेना की कार्रवाई में 120 लोग मारे गए। फर्जी मुठभेड़ की इस घटना का सबसे ज्यादा शर्मनाक पहलू यह है कि सेना के दो बड़े अधिकारी पुरस्कार, नगद रुपयों और पदोन्नति के लोभ में तीन बेरोजगार युवकों को स्थानीय दलालों के माध्यम से कुली का काम दिलाने का लालच दे कर सीमा पर नियंत्रण रेखा के पास ले आए और उन्हें गोली मार दी। और यह एलान किया कि उन्होंने तीन आतंकवादियों को घुसपैठ करते हुए मुठभेड़ में मार डाला है। कश्मीर में सुरक्षा बल के अफसर और जवान आतंकवादियों को मारने पर नगद पुरस्कार और पदोन्नति प्राप्त करने के हकदार बनते हैं। सेना के कोर्ट मार्शल द्वारा आजीवन कारावास की सजा देने की यह शायद पहली घटना है। निर्दोष लोगों को फर्जी मुठभेड़ में मारना सारे देश में सामान्य हो चला है। एक मुठभेड़ के मामले में तो देश के सत्तारूढ़दल के अध्यक्ष तक लिप्त हैं। कश्मीर घाटी में सेना के फैसले का स्वागत करते हुए उसे अपवाद ही माना जा रहा है।

दूसरी घटना की नृशंसता और उसको दस साल तक छिपाए रखने की गोपनीयता हृदय विदीर्ण कर डालती है। 2004 में मणिपुर की एक लड़की थंगजाम मनोरमा को 17 असम राइफल्स की एक टुकड़ी ने अमानुषिक यातनाएं दे कर मार डाला था। विरोध में मणिपुर में महिलाओं ने निर्वस्त्र होकर जुलुस निकाला; एरोम शर्मिला ने अनशन शुरू किया। न्यायिक जांच के लिए आयोग बनाया गया जिसकी रिपोर्ट, दस साल तक दबाए रखने के बाद हाल में उच्चतम न्यायालय को उसके तलब करने के बाद सौंपी गई है। मणिपुर के अवकाश प्राप्त जिला व सेशन न्यायाधीश उपेन्द्र सिंह जांच आयोग के अध्यक्ष थे। उन्होंने

अपनी रपट में बताया है कि 10-11 जुलाई 2004 की रात को मनोरमा को इम्फाल में उसके घर से 17 असम राइफल्स के सैनिकों ने उठा लिया; इसके बाद पुलिस थाने से 2 किलोमीटर दूर एक सड़क पर वह मृत पाई गई।

आयोग की रिपोर्ट में कहा गया है कि मनोरमा अपनी माँ को जकड़े हुई थी लेकिन उसे इसी अवस्था में घसीट कर उसके घर के सामने लाया गया। वह बार-बार चिल्ला रही थी, 'इमा, इमा खामु' (माँ, माँ इन्हें रोको), 'इए खांगड़े' (कुछ नहीं जानती)। घर से उसे कई स्थानों पर ले जाया गया। असम राइफल की एफआईआर रिपोर्ट में कहा गया कि मनोरमा उन्हें ऐसे स्थान में ले गई जहाँ चीनी गोले और एके 47 राइफलें बरामद हुईं ; मनोरमा ने भागने की कोशिश की तो उसके पैरों में गोली मारी गई और अत्यधिक रक्तस्राव से उसकी मृत्यु हो गई।

जांच आयोग की रिपोर्ट में कहा गया है कि पुलिस ने जांच का काम असम राइफल की 'सद्‌बुद्धि और अनुकंपा' पर छोड़ दिया। न्यायाधीश उपेंद्र सिंह ने यह भी बताया है कि असम राइफल के सैनिकों ने जाँच के दौरान उनके आयोग के समक्ष सशस्त्र बल (विशेषाधिकार) अधिनियम का हवाला दे कर अपने को निरपराध बताने की बार-बार कोशिश की। इसके जवाब में उपेन्द्र सिंह ने कहा कि जांच आयोग का काम केवल तथ्य जानना है और सशस्त्र बल अधिनियम के प्रावधान तो बाद में सैनिकों के दोषी पाए जाने पर लागू किए जा सकेंगे। उपेन्द्र सिंह ने यह भी बताया कि एक भी गोली मनोरमा के पैरों में नहीं लगी थी, उसके भागने की चेष्टा करने की कहानी सरासर झूठ है। उसे तब गोली मारी गई जब वह एकदम असहाय और निरुपाय थी। उसके शरीर की कुछ चोटें यह संकेत देती हैं की उस पर यौन आक्रमण भी हुआ था।

राष्ट्र की अखंडता और झूठे देश प्रेम के नाम पर क्या-क्या पाप किए जा रहे हैं! देश-प्रेम का मतलब तो यह होना चाहिए की हमारी सेना की राई भर गलती हमें पहाड़ सी लगे पर हमें यह सिखाया जा रहा है कि पहाड़ जैसी गलती को हम राई से भी कम मानें। एरोम शर्मिला आज दस वर्ष से सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम के खिलाफ अनशन कर रही हैं। दिल्ली की अदालत में नाक में नली सहित उनके मुख की तस्वीर देख कर लगता है कि हम ऐसे देश में रह रहे हैं जिसने अपने राष्ट्रीय संग्राम के सब आदर्शों और मूल्यों को भुला दिया है। सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम (अफ़सपा) के खिलाफ एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन छेड़ने की जरूरत है। जब तक यह कानून है तब तक कश्मीर और उत्तर पूर्व में कोई भी सुरक्षित नहीं है।

■

मोदी मंत्रिमंडल का विस्तार

नरेंद्र मोदी के मंत्रिमंडल विस्तार के बारे में यह कहा जा रहा है कि उन्होंने इसमें जातियों का समीकरण बिठाया है, भाजपा की अंदरुनी राजनीति को ध्यान में रखा है, तेलगु देशम पार्टी के वाई.एस चौधरी को राज्यमंत्री बनाकर आंध्र को प्रतिनिधित्व प्रदान किया है और एक साध्वी को राज्य मंत्री बनाकर एक अन्य साध्वी मंत्री के पर काटे हैं, आदि। लेकिन हमारे खयाल में राज्य वित्त मंत्री के पद पर जयंत सिन्हा की नियुक्ति सबसे ज्यादा अर्थपूर्ण है। इस नियुक्ति से मोदी ने अपने सबसे विश्वसनीय मंत्री अरुण जेटली को एक 'विशेषज्ञ' सहयोगी दिया है, जो विनिवेश (डिइनवेस्टमेंट), विदेशी निवेश और मोदी के प्रिय ई कॉमर्स के कार्यक्रमों को चलाने में मदद कर देश का 'कल्याण' करेगा। जयंत सिन्हा निवेश (इनवेस्टमेंट) सलाहकार होने के साथ एकदम हाल तक दुनिया की ई व्यापार की एक बड़ी कंपनी ईबे के ग्लोबल इंपैक्ट फंड के पार्टनर (साझेदार) थे जो दुनिया भर में सामाजिक कल्याण, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में पैसा देता है पर बदले में वह उगाही भी करता है। इसके पहले जयंत सिन्हा ने मैनेजमेंट में सलाह देनेवाली प्रसिद्ध मकिंसी कंपनी में विनियोग फंड मैनेजर की हैसियत से काम किया था।

सिलिकान घाटी से निकलनेवाले वेब अखबार 'पैडो डेली' साल भर से यह समाचार देता रहा है कि जयंत सिन्हा और उनके बॉस पियरे ओमिडयार (ईरानी-अमरीकी खरबपति ईबे कंपनी के मालिक) पिछले कुछ वर्षों से भारतीय राजनीति में अपने 'कल्याणकारी' कार्यों के साथ जयंत सिन्हा की पार्टी के राजनीतिक कार्यों से (जब वह सत्तारूढ़नहीं थी) तालमेल बैठाते हुए

'राजनीतिक विनियोग' करते रहे हैं जिसकी फसल वे आगे काटेंगे।

ओमिडयार और सिन्हा ने 2010 में जनाग्रह नामक एक गैर सरकारी संगठन को 30 लाख डॉलर 'मैंने घूस दी' नामक भ्रष्टाचार विरोधी अभियान चलाने के लिए दिए। भाजपा के दो बुजुर्ग सदस्यों के अनुसार सिन्हा ने 2012 और 2013 में मोदी की टीम में काम किया। वह भाजपा के थिंक टैंक इंडिया फाउंडेशन के भी डायरेक्टर रहे। इंडिया फाउंडेशन अजीत डोमल ने स्थापित किया था। डोमल अभी मोदी सरकार के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार हैं। जयंत सिन्हा वर्षों से ई व्यापार में विदेशी विनियोग की वकालत करते आए हैं। मोदी ने चुनाव में अपनी जीत के बाद ईबे, अमैजैन और गूगल के प्रतिनिधियों को भारत के ई-व्यापार कानूनों को नया रूप देने को आमंत्रित भी किया।

मोदी मंत्रिमंडल का विस्तार बताता है कि मोदी का तारणहार के रूप में जोरों से प्रचार किया जाएगा और शायद इसीलिए अरुण जेटली को सूचना व प्रचार मंत्री बनाया गया है। दो, नए-नए करतबों से पूंजीवादी विकास की दिशा में देश को इतनी तेजी से दौड़ाया जाएगा कि उसके लड़खड़ा कर गिरने की पूरी आशंका रहेगी। ■

''शिक्षा का बाजार एक विकृति है। किसी भी आधुनिक समाज में शिक्षा के बाजार का मतलब क्या है? हमारे शिक्षण संस्थानों को पहले हम शिक्षा के मंदिर कहते थे। अब वे शिक्षा की दुकानें बन गई हैं। वहाँ मुनाफाखोरी चल रही है, घोटाले हो रहे हैं, इसमें यही होगा। भोपाल में 'व्यापम' (व्यावसायिक परीक्षा मंडल, मध्यप्रदेश) घोटाला हुआ। मेडिकल की सीटों के लिए आज 10 से 20 लाख रुपए लिए जा रहे हैं, चारों तरफ ये हो रहा है। होशंगाबाद जिले में 5-6 बी.एड. कॉलेज खुल गए हैं और वहाँ 40 हजार फीस हैऔर एक लाख दे दीजिए तो बिना अटैंडेंस (उपस्थिति) के आपको सब मिल जाएगा और आप पास भी हो जाएंगे। यह शिक्षा के बाजार का परिणाम है। बाजार में उसी के लिए जगह है जिसके पास पैसा है। यदि आपके पास पैसा नहीं है तो बाजार में आपके लिए कोई जगह नहीं है। बाजार जो टुकड़े व जूठन फेंकेगा, आप उसे उठा सकते हैं।''

''बाजारीकरण क्यों बढ़ रहा है? निजीकरण की माँग जनता की ओर से नहीं आई। यह विश्वबैंक द्वारा भारत की शिक्षा नीति और व्यवस्था को प्रभावित करके शिक्षा का बाजारीकरण किया गया है। इसमें नेताओं के अपने स्वार्थ हैं। वे सब शिक्षा के इस धंधे में कूद पड़े हैं। जितने भी स्कूल, कॉलेज-मेडिकल, इंजीनियरिंग, बी.एड.-सब नेताओं ने खोल लिए हैं। यह आज उनका निहित स्वार्थ बन गया है। सभी सरकारें शिक्षा के निजीकरण को अंधाधुंध तरीके से बढ़ावा दे रही हैं। इस देश में आज शिक्षा का धंधा सबसे ज्यादा मुनाफे वाला, सबसे ज्यादा अनियंत्रित और सबसे ज्यादा तेजी से बढ़ने वाला धंधा बन गया है। बड़े-बड़े नेताओं से लेकर छुटभैय्ये नेता तक सब इसमें टूट पड़े हैं। इसमें अनाप-शनाप लूट व शोषण है और देश का नुकसान है।''

''...निजी स्कूल का मतलब ही भेदभाव है। जिसके पास पैसा है, उसका बच्चा ऊँचे स्कूल में पढ़ेगा। जिसके पास और पैसा है, उसका बच्चा विदेश पढ़ने जाएगा। जिसके पास पैसा नहीं है और जो सबसे ज्यादा उपेक्षित, गरीब व मजदूर का बच्चा है, वह सरकारी स्कूल में जाएगा। शिक्षा में भेदभाव, स्वास्थ्य में भेदभाव। बच्चे तो भगवान की देन हैं फिर आप इन बच्चों में भेदभाव क्यों कर रहे हैं। आपकी समान अवसर की बात सिर्फ एक ढकोसला है। शिक्षा में भेदभाव नहीं होना चाहिए।...''

(लोकसभा चुनाव 2014 के दौरान राजनीतिक दलों के साथ शिक्षा नीति पर 07 अप्रैल, 2014 को भोपाल में आयोजित संवाद में श्री सुनील के वक्तव्य की वीडियो रिकार्डिंग से लिप्यांतरित।)

–सुनील, 'भारत शिक्षित कैसे बने?' किशोर भारती, अप्रैल, 2014, पृ. 46-47 से उद्धृत

हांगकांग का आंदोलन महत्वपूर्ण क्यों?

एन.जयराम

चीन की प्रभुसत्ता के तहत हांगकांग एकमात्र ऐसा स्थान है, जहाँ सभा–सम्मेलन, प्रेस की स्वाधीनता और उससे जुड़ी अन्य स्वाधीनताएँ हैं। इन स्वाधीनताओं की हिफाजत करने के लिए हांगकांग के बाशिंदे बहुत सजग भी हैं।

1984 के चीन और ब्रिटेन के संयुक्त घोषणापत्र के तहत चीन ने यह मंजूर किया था कि 1 जुलाई, 1997 से ब्रिटेन से हांगकांग की सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद वह आगे के पचास वर्षों तक हांगकांग की जीवन पद्धति में कोई रद्दोबदल नहीं करेगा। यह मंजूरी चीन ने 'एक देश, दो व्यवस्थाएँ' फारमूले के आधार पर दी थी। इस फारमूले के तहत हांगकांग को अपनी पूँजीवादी व्यवस्था, स्वायत्त न्यायपालिका, स्वाधीन प्रेस और अन्य स्वाधीनताएँ बरकरार रखने की इजाजत दी गई थी। यह एक मजाक करने जैसी बात है कि संयुक्त घोषणापत्र में यह मान लिया गया था कि हांगकांग में तो पूँजीवादी व्यवस्था है, मगर चीन में एक गैरपूँजीवादी व्यवस्था है, जबकि सच्चाई यह है कि चीन के भीतर शायद ही कोई और बाकी बाहरी दुनिया में मुट्ठीभर लोग ही यह मानते होंगे कि वहाँ (चीन में) कोई गैरपूँजीवादी व्यवस्था है। चीन में गैरपूँजीवादी व्यवस्था होने की बात तो अब एक मिथक या भ्रम है।

1997 से ब्रिटेन की औपनिवेशिक प्रभुसत्ता से मुक्त हो जाने के बाद 'एक देश, दो व्यवस्थाएँ' फारमूले के तहत हांगकांग अब 'हांगकांग विशेष प्रशासकीय क्षेत्र' के नाम से जाना जाता है। न्यायपालिका की स्वायत्तता और स्वाधीनता बरकरार रखे जाने के कारण हांगकांग में अभी भी ब्रिटिश न्यायिक व्यवस्था चालू है; यह व्यवस्था 'कॉमन लॉ' सिद्धांत पर आधारित है। इस सिद्धांत के मुताबिक कानून विधायिका द्वारा स्वीकृत अधिनियमों या कार्यपालिका द्वारा जारी किए गए विनियमों से बनने के बजाय न्यायाधीशों के अदालती फैसलों और अदालतों जैसे अधिकार प्राप्त न्यायाधिकरणों (ट्रिब्यूनल) के फैसलों से बनता (विकसित होता) है। कानून के विकसित होने की यह ब्रिटिश पद्धति दुनिया के उन सभी देशों में चलती है जो एक समय ब्रिटेन के उपनिवेश थे। (भारत में विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों और न्यायपालिका के फैसलों यानी दोनों को ही मान्यता प्राप्त है।) ब्रिटिश न्यायप्रणाली (कॉमन लॉ) कायम रहने के कारण हांगकांग में कॉमन लॉ के अन्य अधिकार क्षेत्रों के बहुत सारे न्यायाधीश हांगकांग की बड़ी अदालतों में मामले–मुकदमों का निपटारा करते हैं।

चीन को हांगकांग हस्तांतरित किए जाने पर एक संवैधानिक दस्तावेज के तहत बनाए गए 'बेसिक लॉ' (बुनियादी कानून) द्वारा यह व्यवस्था की गई थी कि ब्रिटिश प्रभुसत्ता के समय हांगकांग में मानव अधिकारों तथा मजदूर अधिकारों के जो अंतरराष्ट्रीय प्रावधान इंस्ट्रूमेंट अर्थात कानूनी दस्तावेज) लागू किए गए थे, वे पहले की तरह अमल में लाए जाते रहेंगे। ऐसे में नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के अंतरराष्ट्रीय कानूनी समझौते (कावेनांट) की धाराओं का हांगकांग की अदालतों में नियमित रूप से हवाला दिया जाता है और उनका पालन करने की माँग की जाती है। इस कारण चीन की सरकार को हांगकांग के अधिकारियों की मदद से नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के अंतरराष्ट्रीय कानूनी समझौते की संस्था–समितियों को समय–समय पर रिपोर्ट देनी पड़ती है कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के अंतरराष्ट्रीय कानूनी समझौते, महिलाओं के साथ भेदभाव करनेवाले सभी तरीकों को खतम करने के कानूनी समझौते, बच्चों के अधिकार संबंधी समझौते और इसी प्रकार के अन्य समझौतों को अमल में लाने या उनका पालन करने में कितनी प्रगति हुई है।

नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के

अंतरराष्ट्रीय कानूनी समझौते के 25वें अनुच्छेद में कहा गया है कि (क) हर नागरिक को यह अधिकार और अवसर मिलेगा कि वह प्रत्यक्ष या स्वतंत्र रूप से चुने गए प्रतिनिधि के माध्यम से सार्वजनिक कार्यों के संचालन में भाग ले। (ख) उसे सार्विक (यूनिवर्सल) मताधिकार के आधार पर होने वाले नियतकालिक निष्पक्ष चुनावों में, जिनमें गुप्त मत–पत्र द्वारा मतदान होगा ताकि मतदाताओं की इच्छा की स्वतंत्र अभिव्यक्ति हो, वोट देने और चुने जाने का अधिकार और अवसर मिलेगा। लेकिन हांगकांग में ब्रिटिश शासन की समाप्ति पर बनाए गए बुनियादी (बेसिक लॉ) कानून के 45वें अनुच्छेद में कहा गया है कि 'चरम लक्ष्य मुख्य कार्यकारी प्रधान (चीफ एक्जीक्यूटिव) का चयन करना है।' इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति कैसे होगी?'व्यापक आधार पर गठित एक प्रतिनिधि मनोनयन समिति द्वारा लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के अनुरूप नामजद उम्मीदवारों में से सार्विक मताधिकार के आधार पर मुख्य कार्यकारी प्रधान का चयन करना होगा।' यह गोलमटोल शब्दावली चीन के शासकों के छल प्रपंच का एक अच्छा–खासा उदाहरण है। 1997 से हांगकांग का मुख्य कार्यकारी प्रधान (यह महानुभाव, ब्रिटिश शासन के दौरान अंगरेज गवर्नर जो भूमिका निबाहता था, वही भूमिका निबाहते हैं) का चयन शुरू में एक 800 सदस्यों की समिति द्वारा होता था। बाद में यह बढ़ाकर 1200 सदस्यों की समिति कर दी गई। इसके अधिकतर सदस्य बीजिंग समर्थक उद्योगपति और उनके चट्टे–बट्टे हैं। 2007 में चीन की सरकार ने वचन दिया था कि 2017 से वह मुख्य कार्यकारी प्रधान का सार्विक मताधिकार के माध्यम से चयन करने की अनुमति देगी।

हांगकांग में लोकतांत्रिक अधिकारों का जो आंदोलन शुरू हुआ उसका तात्कालिक कारण (और भी कारण हैं और वे कोई कमतर कारण नहीं) हाल में बीजिंग और हांगकांग के अधिकारियों की वह अनोखी और अद्‌भुत घोषणा है, जिसमें उन्होंने यह फरमान जारी किया कि वे (अपने समर्थकों की कमेटी के माध्यम से) यह तय करेंगे कि कौन लोग चुनाव लड़ेंगे और चुनाव में दो या तीन से ज्यादा उम्मीदवार नहीं हो सकेंगे। यह पद्धति ईरान की चुनाव पद्धति से मिलती–जुलती है,जहाँ बुजुर्गों की (गार्जियन) एक अत्यंत रूढ़िवादी परिषद यह तय करती है कि कौन राष्ट्रपति का चुनाव लड़ सकता है और कौन नहीं। इसका नतीजा यह होता है कि सिर्फ ऐसे लोगों को ही चुनाव लड़ने की इजाजत मिल पाती है जो हुक्म बजाने को तैयार हों।

जाहिर है कि इस फरमान से हांगकांग की जनता में, जिसमें लोकतंत्र के समर्थक निश्चित रूप से बहुसंख्यक हैं, रोष पैदा होना स्वाभाविक था। इस रोष ने छात्रों के प्रदर्शनों और मोमबत्ती–जुलूसों (विजिल) का रूप ग्रहण किया। यह पहला अवसर था जब छात्र किसी लोकतंत्र विरोधी कार्रवाई के खिलाफ क्षोभ प्रकट करने के लिए प्रदर्शन कर रहे थे। इसके पहले लोकतंत्र विरोधी कार्रवाइयों का विरोध राजनीतिक पार्टियों और कुछ अन्य संगठनों द्वारा ही किया जाता था। लेकिन अब छात्रों और अकादमिक लोगों ने 'केंद्र पर कब्जा करो' (आकुपाई सेंट्रल) नारे के साथ हांगकांग के छात्रों के फेडरेशन के झंडे के तले बड़े पैमाने पर विरोध और प्रदर्शनों को संगठित करने का नेतृत्व ग्रहण किया। हांगकांग की पुलिस आमतौर पर विनम्र मानी जाती है किंतु इस बार उसने आश्चर्यजनक रूप से कठोर रवैया अपनाया और भारी बल प्रयोग का सहारा लिया, धुआँधार आँसू गैस छोड़ी, जिससे लोग घायल हुए। पुलिस के व्यवहार के विपरीत हांगकांग के प्रदर्शनकारियों के विनम्र और सभ्य आचरण की दुनियाभर में प्रशंसा हो रही है। मोमबत्तियाँ जलाकर उन्होंने जो प्रदर्शन किए, उनमें गले हुए मोम के साथ–साथ सड़क पर फैले हर तरह के कूड़े को बटोरने और सड़क की घेराबंदी से लोगों को होनेवाली असुविधा के लिए क्षमा–याचना करने की तख्तियाँ लगाने जैसे अपने काम से उन्होंने एक नई मिसाल भी कायम की है।

छात्र और उनके समर्थक अब पक्के तौर पर यह मानने लगे हैं कि बीजिंग और हांगकांग के अधिकारियों का अपने वचन का पालन करने का कोई इरादा नहीं है; वे वचन भंग करते रहे हैं और आगे भी करेंगे।

हांगकांग में लोकतंत्र के समर्थन में होनेवाले प्रदर्शनों में सिर्फ छात्र और अकादमिक लोग ही शामिल नहीं हैं, दूसरे तबके भी हैं। बुजुर्ग नागरिक

उन स्थानों में, जो कभी गाँव हुआ करते थे, बड़ा अनिश्चित और विपन्न जीवन जी रहे हैं। उनके गाँव अब अचानक महानगर के छोटे उजाड़ हिस्से बन गए हैं। कारखाने हांगकांग से हटाकर चीन ले जाए गए हैं, जहाँ गला काट पूँजीवाद का बोलबाला है। मजदूरों की हालत दयनीय है उनकी मुसीबतों का कोई अंत नहीं। सिर्फ एक गरीब ट्रेड यूनियन संगठन 'हांगकांग के ट्रेड यूनियनों का महासंघ' (कानफेडरेशन) चीन के पूँजीवादी मजदूर विरोधी अभियान का प्रतिरोध करने की कोशिश कर रहा है।

इस बीच लोकतंत्र के समर्थन में आए उफान के समानांतर हांगकांग के धनवान उद्योगपति, ताकतवर धनी और अन्य इजारेदार पूँजीपति लोकतंत्र के समर्थन में होनेवाले आंदोलन के प्रति अपनी घृणा का इजहार करते हुए बीजिंग के महाप्रभुओं के प्रति वफादारी जता रहे हैं क्योंकि वे यह जानते हैं कि छात्र और अन्य लोकतंत्र समर्थक तत्व, राजनीतिक लोकतंत्र के साथ वास्तव में आर्थिक लोकतंत्र की माँग कर रहे हैं और याराना पूँजीवाद (क्रोनी कैपिटलिज्म) का खात्मा चाह रहे हैं।

हांगकांग में ऐसे बीजिंग समर्थक संगठन भी हैं, जिन्हें अगाध पैसा मिलता है। इनमें 'हांगकांग कान फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन' भी है, जो चीन के 'ऑल चाइना फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन' की तरह मजदूरों के हितों की रक्षा करने के बजाय उनको सताने और उनका शोषण करने के तरीकों की तरफदारी करता है। छात्रों और लोकतंत्र समर्थकों का विरोध करने में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका हांगकांग की सबसे बड़ी और सबसे ज्यादा धनवान राजनीतिक पार्टी डीएबी की है। डीएबी यानी डेमोक्रैटिक एलाएंस फॉर बेटरमेंट एंड प्रोग्रेस आफ हांगकांग। इसका हिंदी अनुवाद होगा हांगकांग की बेहतरी और प्रगति के लिए वचनबद्ध लोकतांत्रिक मोर्चा (गठबंधन)।

हांगकांग में विभिन्न वाणिज्य संघ हैं (चेंबर आफ कामर्स जिनमें भारतीय चेंबर भी है),जो बीजिंग की ठकुरसुहाती करना अपना कर्तव्य मानकर लोकतांत्रिक माँगों की निंदा करते हैं। एक मजे की बात यह है कि कम से कम कुछ वाणिज्य–उद्योग (बिजनेस) लॉबियों का असली लोकतंत्र, पारदर्शी व्यवस्था और कानून का राज्य स्थापित होने पर वास्तव में हित ही सधेगा, लेकिन वे डर और घबराहट में जनविरोधी और बीजिंग समर्थक रवैया अपना रही हैं।

बीजिंग की मति को क्या हुआ है कि वह लोकतंत्र समर्थक प्रदर्शनकारियों पर यह आरोप लगा रहा है कि उन्हें पश्चिमी ताकतों से पैसा मिल रहा है और वे उनके वेतनभोगी हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि पश्चिमी शक्तियों की बहुत सारी कंपनियाँ चीन और हांगकांग में खासी अच्छी कमाई कर रही हैं और उनकी सहानुभूति अन्य किसी से भले ही हो पर लोकतंत्र समर्थक प्रदर्शनकारियों से किसी भी हालत में नहीं हो सकती। प्रसंगवश यहाँ बताया जा सकता है कि लोकतंत्र समर्थक छात्र प्रदर्शनकारियों पर हांगकांग पुलिस ने जो धुआँधार आँसू गैस छोड़ी, वह एक ब्रिटिश कंपनी द्वारा उसे (हांगकांग पुलिस को) बेची गई थी।

बीजिंग और हांगकांग के अधिकारियों में से किसी ने यह बताने की कोशिश भी नहीं की है कि आखिर वे लोकतंत्र समर्थक प्रदर्शनकारियों के इतने खिलाफ क्यों हैं?ऐसे में हम केवल अनुमान लगा सकते हैं। हमारा अनुमान है कि वे इस बात से चिंतित हैं कि यदि लोकतंत्र समर्थक आंदोलन उनके नियंत्रण के बाहर चला गया तो हांगकांग पर बीजिंग का नियंत्रण ढीला पड़ जाएगा। चीनी नेताओं को शायद यह डर भी सताता हो कि लोकतांत्रिक ताकतों के सफल होने पर हांगकांग में ऐसा नेता निर्वाचित हो सकता है, जो चीन से अलग होने की माँग करे। लेकिन इस प्रकार का डर एकदम निराधार है क्योंकि हांगकांग की लोकतंत्र समर्थक राजनीतिक पार्टियों में कोई भी नेता ऐसा नहीं है, जो चीन से अलग होने या हांगकांग की स्वाधीनता की माँग करता हो। उलटे, यदि सभी नहीं तो ज्यादातर नेता घोर राष्ट्रवादी हैं। लोकतंत्र के समर्थन में हुए ज्यादातर प्रदर्शनों में चीन के प्रति वफादारी का इजहार किया गया है; वफादारी लेकिन मौजूदा तानाशाही के तहत नहीं। ये प्रदर्शनकारी इतने ज्यादा राष्ट्रवादी हैं कि जब कभी चीन और जापान के बीच सीमाओं को लेकर विवाद छिड़ता है तो बीजिंग समर्थकों के बजाय वे ही हांगकांग में मुखर होते हैं; प्रदर्शन आयोजित करते हैं।

आज यूरोप का एक बड़ा हिस्सा वेस्टफेलियन राष्ट्रवाद (इसके अनुसार सभी राष्ट्र–राज्यों की अपने क्षेत्र में प्रभुसत्ता रहेगी और उनके घरेलू ढाँचे में किसी बाहरी शक्ति (एजेंट) की कोई भूमिका नहीं होगी) से छुटकारा पाने की कोशिश कर रहा है। इस कोशिश में जहाँ तक यूरोपियन यूनियन के ढाँचे में अपने को समाहित करने की बात है उसे (यूरोप के बड़े हिस्से को) आंशिक सफलता भी मिल रही है, लेकिन बाधा है वह मनोवृत्ति जिसके चलते फुटबॉल के मैदानों में घोर असफलता पर जहाँ दर्शक अपने राष्ट्र–राज्य की जीत के लिए इतने उतावले रहते हैं कि प्रतिस्पर्धी राष्ट्र–राज्य की टीमों के समर्थकों के बीच गाली गलौज और मारपीट तक की नौबत आ जाती है।

यूरोप में जब वेस्टफेलियन राष्ट्रवाद से छुटकारा प्राप्त करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं तब पूर्वी एशिया का,जिसमें हांगकांग शामिल है, क्या हाल है?इस सवाल का जवाब यह है कि पूर्वी एशिया के अधिकांश हिस्सों में जिनमें हांगकांग भी है वेस्टफेलियन राष्ट्रवाद बहुत मुखर और जीवंत है।

राष्ट्र–राज्य की धारणा बड़ी समस्यामूलक है। पासपोर्ट की प्रथा तो हाल की है। जरा अफ्रीका के नक्शे को देखिए। सीधी रेखाओं को देखिए। किसने उन्हें खींचा?कब खींचा?एक सवाल उभरता है–21वीं सदी में सीमा के दोनों तरफ आधे किलोमीटर की दूरी पर रहनेवाले लोगों को इन रेखाओं से क्यों बँधे रहना चाहिए?

बहुत सारे लोग 1950 के दशक से चीन के विभिन्न हिस्सों से आकर हांगकांग में बसे हैं। इनमें पहली, दूसरी पीढ़ी या तीसरी पीढ़ी के लोग हैं। ये लोग अपने शहर में उत्तर से आए धनी पर्यटकों की अजीबोगरीब हरकतों और शाहखरची से भले ही चिढ़ते–बिदकते हों, लेकिन वे अपने को एक ही जाति और राष्ट्र का सदस्य मानते हैं– पीले सम्राट की संतान। (पीला सम्राट अब चीनी सभ्यता का जनक माना जाता है; वह किंवदंतीवाला एक महापुरुष या हीरो है।)

हांगकांग के प्रदर्शनकारी क्या चाहते हैं?वे एक ऐसी व्यवस्था से छुटकारा चाहते हैं जो प्रायः फासीवादी है और जिसमें एक भ्रष्ट गिरोह तीन दशक से भी ज्यादा समय से डाका डालनेवाली लुच्ची पूँजीवादी (रौबर–बैरन कैपिटलिज्म) राह पर चलने के बावजूद अपने को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी कहने में शरमाता तक नहीं।

हांगकांग किसी का भी नुकसान न करनेवाला एक छोटा सा मासूम द्वीप है। उसे अलोकतांत्रिक बनाकर और सभा–सम्मिलन, प्रेस और वाक स्वातंत्र्य से वंचित करने के बजाय क्या चीन अंततः सारे मानव अधिकारों का सम्मान करने के साथ–साथ एक लोकतांत्रिक दिशा में बढ़ने का खुद प्रयत्न नहीं कर सकता?हांगकांग के लोकतंत्र समर्थक प्रदर्शनकारी यही तो चाहते हैं कि उनके द्वीप से लोकतंत्र का रथ मुख्य प्रदेश (मेनलैंड) चीन तक पहुँचे।

बहरहाल 1997 से चीन का हांगकांग पर कब्जा है, जिसकी आबादी अभी 72 लाख है। 1999 से पुर्तगाल के अत्यंत छोटे औपनिवेशिक द्वीप मकाओ पर भी उसका (चीन का) कब्जा हो गया है, जिसकी आबादी सिर्फ 6 लाख 24 हजार है। ये तो छोटी मछलियाँ हैं, बड़ी मछली तो ताइवान है, जिसे चीन 'एक देश दो व्यवस्थाएँ', फारमूले के तहत एक लंबे अरसे से अपने जाल में फँसाने की आस लगाए हुए है।

ताइवान की आबादी दो करोड़ तीस लाख है और उसका इतिहास कुछ ज्यादा ही पेचीदा है। 1970 के दशक के उत्तरार्ध तक उस पर चीन के एक प्रसिद्ध राष्ट्रीयतावादी परिवार का शासन था, जो यह दंभ करता था कि एक दिन पूरे चीन को वह अपने में मिला लेगा, चीन का पुनर्एकीकरण कर देगा। लेकिन 1982 से ताइवान फल–फूल रहा लोकतंत्र है और लोगों को पुनर्एकीकरण की बात इतनी खोखली जान पड़ती है कि वे उससे तनिक भी उत्साहित होते नहीं दिखाई पड़ते।

ताइवान दो ऐसे राष्ट्रपतियों ली तेंग हुई और चेन शुई बियान के शासन में रह चुका है, जिनका जन्म मुख्य चीन के बजाए ताइवान में ही हुआ था। राष्ट्रपति ली तेंग हुई के दो मुख्य सहयोगियों– फ्रेडरिक चिएन और जैसन हु– को विलक्षण प्रतिभा संपन्न माना जाता है। इन दोनों का जन्म अलबत्ता मुख्य चीन (मेनलैंड) में हुआ था। ताइवान में जनमे

दूसरे राष्ट्रपति चेन शुई बियान का व्यक्तित्व पहले राष्ट्रपति ली तेंग हुई की तुलना में कुछ ज्यादा ही विवादास्पद था।

1948 में कम्युनिस्टों द्वारा कोमिंतांग की राष्ट्रवादी सरकार को खदेड़कर बाहर करने के बाद की दीर्घ अवधि में ताइवान में जो राष्ट्रपति हुए, उनमें वर्तमान राष्ट्रपति मा यिंग–जेवो को सबसे अधिक बीजिंग समर्थक माना जाता है पर अब वह भी पहले की तरह बीजिंग के शासकों का समर्थन करते नहीं जान पड़ते। उन्होंने हांगकांग के छात्रों के लोकतांत्रिक आंदोलन का समर्थन भी किया है।

बीजिंग शासन की प्रभुसत्ता के तहत तिब्बत, जिनजियांग, भीतरी मंगोलिया और अन्य विशाल क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र चीन की प्रभुसत्तावाले कुल क्षेत्र का दो तिहाई हिस्सा हैं। इनमें गैर हान लोग बसते हैं। ये लोग निश्चय ही हांगकांग की घटनाओं के बारे में जानना चाहेंगे पर चीन के प्रभुसत्ता–क्षेत्र में सेंसरशिप इस सीमा तक पहुँची हुई है कि उन्हें कुछ भी पता नहीं चलेगा, कोई सुराग तक नहीं मिलेगा।

''अगर 1990 के उत्तरार्ध से आपकी प्रभुसत्ता के अधिकार–क्षेत्र में आए अत्यंत विनम्र लोगों के साथ, अंतरराष्ट्रीय समझौतों और संधियों से वचनबद्ध होने के बावजूद आपका यह व्यवहार है तो जरा सोचिए कि आप हमारे साथ क्या करते आए हैं और आगे करते रहेंगे''– शायद ऐसा कुछ चीन की प्रभुसत्ता के अधिकार क्षेत्र में रहनेवाले गैर हान लोग सोच रहे हों; विदेशों में रह रहे बहुत सारे तिब्बतियों और उइघर लोग इस तरह की बातें दुख और क्रोध में कहते भी हैं। कुछ ही दिन पहले चीन ने प्रसिद्ध उइघर बुद्धिजीवी इहाम तोहती को आजीवन कारावास की सजा दी है।

हांगकांग में अभी जो हो रहा है वह बहुत महत्व रखता है क्योंकि वहां याराना पूँजीवाद और इजारेदारीवाले पूँजीवाद की चीन के स्वार्थी और मानवद्वेषी हुक्मरान के साथ मिलीभगतवाले लोकतंत्र विरोधी गठनबंधन को लोकतांत्रिक चुनौती दी जा रही है। लोकतंत्र की सुगबुगाहट की आहट आज भारत और दुनिया के बहुत सारे हिस्सों यहाँ तक कि अमरीका में भी (वाल स्ट्रीट पर कब्जा) सुनाई पड़ रही है।

आज से चालीस–पचास साल पहले भारत में एक नारा सुनाई पड़ता था– 'टाटा–बिड़ला की सरकार नहीं चलेगी, नहीं चलेगी' और यह तब, जब इंदिरा गांधी समाजवाद और 'गरीबी हटाओ' उच्चार रही थीं। भले ही उसका इरादा न समाजवाद लाने का और न गरीबी हटाने का था। आज अडानी और अंबानी के साम्राज्य ने वर्तमान भाजपा सरकार पर अपना शिकंजा कसने के मामले में टाटा–बिड़ला को बहुत पीछे छोड़ दिया है।

हांगकांग में जो हो रहा है उससे जरा भारत को जोड़कर देखें तो यह लगता है कि वहाँ (हांगकांग में) लोग सिंहासन पर बैठी भ्रष्ट और दंभी हस्तियों का विरोध करते हुए उनसे कवि रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में कह रहे हैं :

सदियों की ठंडी, बुझी राख सुगबुगा उठी
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है
दो राह, समय के रथ का घर्घर नाद सुनो
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

चाहे हांगकांग हो, चाहे भारत हो या अमरीका ही क्यों न हो–लोकतंत्र की प्रतीक्षा सर्वत्र की जा रही है।

■

''भारतीय शिक्षा की यह दयनीय हालत कई अन्य मामलों की तरह औपनिवेशिक विरासत के कारण है। इसकी नींव लॉर्ड मैकाले ने अंग्रेज साम्राज्य की जरूरत के हिसाब से डाली थी। उन्हें महज बाबू और हुक्म का पालन करने वाले कारिंदों की जरूरत थी। इसलिए रचनात्मकता, मौलिकता, जिज्ञासा, विविधता आदि से रहित इस शिक्षा में सिर्फ अक्षरज्ञान, कागजीज्ञान और अनुकरण पर जोर दिया गया था।''

—सुनील
(इधर मैकाले उधर गांधी, पृ.6)

आज के संदर्भ में कुछ रचनात्मक कार्य

नारायण देसाई

'रचनात्मक कार्यक्रम' गाँधी के पारिभाषिक शब्द में से है। उन्होंने अपने कई मौलिक विचारों को व्यक्त करने के लिए नए पारिभाषिक शब्द रचे और अपनी कल्पना के अनुसार उनमें अर्थ भरे। ''सत्य–अहिंसा द्वारा पूर्ण स्वराज की रचना'' ऐसी व्यापक परिभाषा गांधीजी के 'रचनात्मक कार्य' की थी। उन्होंने तो यहाँ तक माना था कि रचनात्मक कार्यों का पूर्ण अमल ही स्वराज है। इनमें निम्न कल्पनाएँ शामिल थीं–

रचनात्मक कार्य समाज के प्रत्येक वर्ग को स्पर्श करेगा।

अपनी सफलता द्वारा वह प्रत्येक अंग को शक्ति देगा।

यदि वह पूरे समाज में व्याप्त हो जाय और उसका पूर्ण अमल हो तो देश को इतनी ताकत देगा कि विदेशी शासन को मिटाने के लिए और किसी प्रकार के कार्यक्रम की जरूरत ही नहीं होगी।

रचनात्मक कार्य के पूर्ण सफल होने के बारे में गाँधीजी की यह कल्पना थी। विदेशी शासन को हटाने के लिए असहयोग, सविनय अवज्ञा आदि कार्यक्रम करने की आवश्यकता ही न रहे, यदि पूरी जनता जीवन के हर क्षेत्र में अपने पैरों पर खड़ी हो जाए।

यह आदर्श था। इसके पीछे जो मुख्य विचार था वह व्यापक प्रमाण में लोक जागृति का था। करोड़ों लोग यदि जागृत रूप में अपने पैरों पर खड़े हो जाएँ तो पराधीनता अपने आप ही नामशेष हो जाएगी।

रचनात्मक कार्यों की एक खूबी यह भी थी कि हरेक कार्यक्रम को उसकी चोटी तक पहुँचाने की जरूरत नहीं थी। उस दिशा में जितने कदम आगे बढ़े स्वराज की उतनी ठोस प्राप्ति होगी। रचनात्मक कार्यक्रम की दूसरी खूबी यह थी कि विदेशी शासन से सीधे टक्कर लेना उसमें जरूरी नहीं था। इन कार्यों की ताकत देखकर विदेशी शासन उस पर धावा बोल दे सो बात अलग। हालाँकि देश की कई तेजस्वी रचनात्मक प्रवृत्तियों के केंद्रों पर धावा बोला गया, यह इतिहास है। ब्रिटिश शासन की ओर से रचनात्मक कार्यक्रम की ताकत की यह स्वीकृति ही थी।

गांधी की रचनात्मक कार्यक्रमों की नीचे लिखी लाक्षणिकताएँ थीं :

वे शासन–निरपेक्ष थे।

वे नीचे से ऊपर उठते थे यानी ग्रामों से शुरु कर देश के स्तर तक जाते थे।

वे समाज के कई क्षेत्रों का स्पर्श करते थे।

वे करुणामूलक थे लेकिन लोगों को लाचार न बनाकर उन्हें अपनी शक्ति का अनुभव कराने वाले थे।

वे आम लोगों की सहानुभूति जगाने वाले थे।

अब आज की परिस्थिति को देखें। 2014 के लोकसभा चुनावों में भाजपा के अलावा अन्य सारी पार्टियों की करारी हार हुई है। इस हार का एक बहुत बड़ा कारण यह रहा है कि पिछले कुछ वर्षों से इन पार्टियों ने आम आदमी तक, तृणमूल या ग्रासरूट तक पहुँचने की शायद ही कोशिश की थी। इस कमजोरी में वे गाँधीजन भी थे जो दलनिरपेक्ष थे। भूदान, ग्रामदान के कार्यक्रम प्रायः स्थगित थे, रचनात्मक कार्य अपनी–अपनी संस्थाओं में कुंठित या आबद्ध थे। अगर मौजूदा शासन करने वाले दल में आपसी फूट न हो जाए तो आगामी पाँच या दस साल तक इनका राज्य निष्कंटक चल सके, उतनी बहुसंख्या उन्हें संसद में मिली है।

इस हालत में शासक दल के पास इतनी ताकत है कि समय–समय पर कार्यक्रम विशेष के लिए विरोधी दलों का सहयोग लेना उसे पुसा सकता है। यद्यपि वर्तमान प्रधानमंत्री का दुःख अपनी

निजी ताकत बढ़ाने का अधिक दिखता है, जनतांत्रिक ताकतों को नहीं। ऐसी परिस्थिति में जनता को मजबूत करने की इच्छा रखने वाले सभी दल या व्यक्तियों के कर्तव्य का विचार कर लिया जाए।

सबसे पहले तो वे अपनी हार के लिए अन्योन्य दलों या कार्यक्रमों के दोष ढूँढ़ने और इल्जाम लगाने में अपनी ताकत बर्बाद न करें। इस परिस्थिति में जनतांत्रिक ताकतें कैसे मजबूत हों इसी पर वे अपना ध्यान केंद्रित करें और अपनी शक्ति लगाएँ। शासक दल को यद्यपि लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त है पर देश के मतदाताओं में तीन में से एक ने ही उनके लिए मतदान किया है, बाकी दो ने नहीं। अलावा इसके इस बार जानबूझ कर किसी को मत न देने वालों की संख्या भी काफी बढ़ी है जो बताता है कि उम्मीदवारों के गुणदोषों का विचार करने वालों की संख्या भी बढ़ रही है। इन बातों का ध्यान रख फिलहाल आज की परिस्थिति में जनतंत्र को मजबूत करने की ख्वाहिश रखने वालों को चुनावी राजनीति की बजाए जनता की रचनात्मक ताकत बढ़ाने में अधिक अक्लमंदी जान पड़ती है।

गाँधी के सुझाए 18 रचनात्मक कार्यक्रम तो हैं ही, इनमें से कुछ को तो सरकार ने अपनी योजनाओं में समाविष्ट कर लिया है। कार्यकर्ता स्वयं उनमें न पड़ें। लोग उन्हें अपने अभिक्रम से उठा लें तो अच्छा ही है। इनमें भ्रष्टाचार न हो, इतनी निगरानी यदि कार्यकर्ता करें तो अच्छा है। लोग स्वयं ही निगरानी रखें तो और अच्छा है। गांधी के रचनात्मक कार्यों में जो दो प्रकार की कमजोरियाँ घुस गईं उनसे कार्यकर्ता को सावधान रहना चाहिए। बड़ी कमजोरी तो यह घुसी की रचनात्मक कार्यों के जरिए जो लोकजागरण का काम होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया। कार्यकर्ता प्रत्यक्ष (खादी ग्रामोद्योग आदि) प्रवृत्तियों में ही व्यस्त रहे। रचनाकार्य में रचना के साथ प्रबोधन का कार्य भी होना चाहिए था, वह अक्सर नहीं हुआ।

दूसरा दोष यह घुसा कि रचनाकर्म कार्यकर्ता या संस्था का कार्यक्रम बनकर रह गया, न कि लोगों के जागृत करने का कार्यक्रम। अतः यह कार्यक्रम क्रांतिकारी न हुआ। आज के संदर्भ में तीन प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रम आयोजित करने चाहिए, सांस्कृतिक, प्रबोधक और पोषक। किशोर–किशोरियों तथा तरुणों में प्रवेश के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम उत्तम है। खेल–कूद, व्यायाम, भजनमंडली, पथनाट्य, नाटक, कला प्रदर्शनियाँ इत्यादि इसमें शामिल हो सकती हैं। इनमें भारत की सर्वसमावेशक संस्कृति पर ध्यान एकाग्र किया जा सकता है। इसी प्रकार के कार्यक्रम कहीं–कहीं अन्य संस्थाएँ भी करती होंगी। उनसे टक्कर में आना टालना चाहिए और गाँव में, जाति में या देश में कहीं दुर्भावना पैदा न हो यह सांस्कृतिक कार्यक्रमों की विशेषता होनी चाहिए। सांस्कृतिक कार्यक्रमों में शामिल होने वालों में प्रतिभावान व्यक्तियों को ढूँढा जा सकता है। वे प्रबोधन के कार्यक्रमों में नेतृत्व भी कर सकते हैं।

पिछले कुछ वर्षों से कई राजनीतिक तथा अन्य संगठनों ने अभ्यास वर्तुल (स्टडी सर्कल) के कार्यक्रमों को प्रायः भुला दिया है। इसे जगह–जगह व्यवस्थित रूप से पुनः आरंभ करने की जरूरत है। आज हमारे अधिकांश तरुण प्रायः भेड़ियाधसान की तरह एक–दूसरे को देख कर दौड़ते रहते हैं। उनके पास जीवन ढालने के लिए कोई आदर्श रोल माडल नहीं है। अतः वे टीवी, सिनेमा या अन्य माध्यमों में समय–समय पर चमकने वाले सितारों को देखकर या खेल–कूद में सफलता पाने वालों को देख उनके जैसे बनने के स्वप्न पाल लेते हैं। आज भारत में युवाओं की संख्या दुनिया के किसी देश के युवाओं से अधिक है। देश की यह सबसे बड़ी शक्ति दिशाशून्य होकर इठलाती है। युवक सितारे या खिलाड़ी बनने के स्वप्न देखते हैं और उन्हें भी पूरा कर नहीं पाते। समाज, देश या दुनिया के लिए उपयोगी होने के उन्हें कोई मार्ग ही नहीं सूझते न उन्हें दिखलाने वाला कोई है। जागृत युवा देश की उत्तम शक्ति बन सकते हैं और देश की सूरत पलट सकते हैं। युवा जागरण का सीधा–सादा कार्यक्रम अभ्यास वर्तुलों का बन सकता है। गाँवों में एक या एकाधिक तथा नगरों में, मुहल्लों में तथा विद्यालयों, महाविद्यालयों में अभ्यास वर्तुल नियमित रूप से चलने चाहिए। युवकों को बड़ों के या पार्टी के विचार पिलाने के लिए नहीं वरन् देश और दुनिया की परिस्थिति पर तटस्थता से सोचने का उन्हें

अभ्यास होना चाहिए। बल्कि उनका यह स्वभाव बन जाना चाहिए। इसमें से नये मौलिक विचार पनपेंगे और आज तक हमारी पीढ़ी जिनका हल ढूँढ नहीं पाई उन प्रश्नों के बारे में सोचने, गहराई से अनुसंधान करने या प्रयोग करने के लिए वे प्रेरित होंगे। इससे नवजीवन की नींव पड़ेगी जिसकी आज देश को निहायत जरूरत है।

स्टडी सर्कल्स को सातत्य में और सृजनात्मक ढंग से चलाने के लिए कुछ बौद्धिकों को आगे आना चाहिए। उनका यही प्रमुख कार्यक्रम बनना चाहिए। उनका अपना अभ्यास भी इससे बढ़ता रहेगा और तरुणों को स्वतंत्ररूप से सहृदय एवं निर्लोभी मार्गदर्शक मिल सकते हैं।

देश का स्वस्थ भविष्य उसी समूह पर निर्भर रहेगा जिसने अपनी बौद्धिक शक्ति और अपना मूल्यनिष्ठ सामर्थ्य युवकों की स्वतंत्र चिंतनशक्ति बढ़ाने के लिए लगाई होगी।

आज का विकास जितने हाथों को काम दिलाता है उससे अधिक हाथों से काम छीन लेता है। नौकरियों के वचन नौकरियाँ दिलाते नहीं। उसके लिए नौकरियाँ नहीं काम पैदा करने होंगे। हमारे पड़ौसी वालोड गाँव ने सैकड़ों स्त्रियों को अपने घर बैठे पापड़–अचार आदि रोजमर्रा के खाद्यपदार्थ बनाने का काम दिलाया है। उसके लिए बड़े कारखाने नहीं लगे, न बड़ी पूँजी लगी। वालोड में बने पापड़ मैंने जर्मनी में खाए हैं। महिलाओं के इस प्रकार अनेक उद्योग देना यह महिला जागरण एवं महिला सशक्तिकरण का काम बन सकता है। युवा नौकरी ढूँढने के बजाय उत्पादक काम ढूँढें तो देश की शक्ति सक्रिय रूप से विधायक दिशा में लग सकती है। हमारी शिक्षा प्रणाली ने छात्रों को उत्पादक काम से विमुख कर दिया है। इस वातावरण को बदलने के लिए अनेक देशप्रेमियों को तपस्या करनी होती। काम में रुचि बढ़ानी होगी, काम की प्रतिष्ठा बढ़ानी होगी और काम का मुआवजा बढ़ाना होगा। यह एक बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य है जो जनतंत्र को मजबूत कर सकता है।

आजकल की परिस्थिति में रचनात्मक काम ही आवश्यक है और यही संभव है। जरूरत है राजनीति के बारे में हमारी दृष्टि को दूरगामी, ठोस और मूल्यवान बनाने की।

■

नवउदारवाद की सबसे बड़ी त्रासदी है कि बहुतेरे बुद्धिजीवी इस नीति के तर्कसंगतिकरण और वैधानीकरण में शासक वर्ग का साथ दे रहे हैं जबकि अपेक्षा थी कि वे जनता के पक्ष में खड़े होकर इस नवउदारवादी एजेंडे की हकीकत को उजागर करते। इसलिए जनता के पास एक ही विकल्प है कि वह इस एजेंडे की जगह सार्वजनिक धन पर आधारित लेकिन जन-केंद्रित एवं लोकतांत्रिक ढाँचे में संचालित समतामूलक और विविधतापूर्ण गुणवत्ता की स्कूली व उच्च शिक्षा व्यवस्था खड़ी करने की अपनी लड़ाई को और मजबूत करे। इस संदर्भ में हमें सरकार द्वारा जनता के सामने फेंके गए हर लॉलीपॉप की भटकाऊ राजनीति को समझना होगा। तभी एक जनपक्षी शिक्षा व्यवस्था की ओर हम आगे बढ़पाएंगे जो मेहनतकश आवाम के यथास्थिति को बदलने वाले ज्ञान-दर्शन पर टिकी होगी। निःसंदेह, इस दृष्टि का निर्माण करने एवं उसको स्थापित करने में नेतृत्वकारी भूमिका संघर्षशील मजदूर वर्ग की होगी।

—डॉ. अनिल सद्‌गोपाल
(शिक्षा बेचने और छीनने का एजेंडा, पृ. 17-18)

दमन के शिकंजे में गणतंत्र

प्रभाकर सिन्हा

आजादी के बाद 26 जनवरी, 1950 को नवनिर्मित संविधान के अनुसार भारत एक गणतंत्र (रिपब्लिक) बना। संविधान की प्रस्तावना में यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा समान प्रतिष्ठा व अवसर प्रदान करने के लिए संविधान को ''अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित" किया जा रहा है। देशवासियों की यह अपेक्षा स्वाभाविक थी कि आजाद होने पर देश में शोषण समाप्त होगा और तब दमन अनावश्यक हो जाएगा। लेकिन संविधान के लागू होने के 64 वर्षों बाद दोनों अपेक्षाएं पूरी नहीं हुई हैं; शोषण और भी बढ़ा है और परिणामस्वरूप दमन निरंतर बढ़ता गया है और इसके बढ़ते जाने की संभावना भी बढ़ी है।

संविधान में जीवन के अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को मौलिक अधिकारों में शामिल कर उनकी सुरक्षा की गारंटी दी गई है, लेकिन संविधान के लागू होने के कुछ ही सप्ताहों के भीतर निवारक नजरबंदी अधिनियम, 1950 (प्रिवेंटिव डिटेंशन एक्ट 1950) पास किया गया। इसके तहत किसी भी निर्दोष व्यक्ति को, जिसपर किसी कानून को तोड़ने का आरोप न हो, जेल में बंद किया जा सकता था। इस कानून का भरपूर दुरुपयोग किसी भी प्रकार के विरोध को–चाहे वह कितना भी जायज क्यों न हो–दबाने के लिए किया गया। अंगरेजों ने 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारतीयों को काबू में रखने के लिए भारत सुरक्षा अधिनियम 1858 बनाया गया था, लेकिन उसमें भी निवारक नजरबंदी (प्रिवेंटिव डिटेंशन) का प्रावधान नहीं था अर्थात ब्रिटिश साम्राज्य को भी ऐसा प्रावधान इतना शर्मनाक और अन्यायपूर्ण लगा कि उसने एक गुलाम देश की प्रजा के दमन के लिए बनाये गए भारत सुरक्षा अधिनियम, 1858 में इस प्रावधान को रखना उचित नहीं समझा। लगभग 50 वर्ष बाद प्रथम विश्वयुद्ध के समय जब ब्रिटेन स्वयं जीवन मरण के युद्ध में फंसा था तब भारत सुरक्षा अधिनियम 1858 को संशोधित कर पहली बार निवारक नजरबंदी का प्रावधान किया गया।

भारतीय गणतंत्र के शासकों ने अंगरेजों द्वारा बनाए गए सारे दमनकारी काले कानूनों को बरक़रार रखते हुए नए दमनकारी काले कानूनों की झड़ी लगा दी। निवारक नजरबंदी अधिनियम 1950 के साथ–साथ उन्होंने भारत सुरक्षा अधिनियम के दमनकारी प्रावधानों को भी कायम रखा। यह अधिनियम 1971 में तब तक कायम रहा जब तक कि इससे भी ज्यादा सख्त और भयंकर 'मीसा' (मेंटेनेंस ऑफ़ इंटरनल सिक्यूरिटी एक्ट 1971) लागू नहीं किया गया। 'मीसा' के तहत सरकार ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के खिलाफ और ज्यादा अधिकार अपने हाथों में ले लिए। बहाना तो आतंरिक सुरक्षा का बनाया गया पर मीसा का व्यापक दुरुपयोग इंदिरा गाँधी ने अपने राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ 1974 में गुजरात और बिहार में किया और 1975 में आपातकाल (इमरजेंसी) के दौरान तो सारे देश में। 1977 में बनी जनता पार्टी की सरकार ने मीसा को निरस्त कर दिया और तब से 1980 में इंदिरा गाँधी की सत्ता की वापसी तक देश में कोई निवारक नजरबंदी कानून नहीं रहा।

सत्ता में वापस आते ही इंदिरा गाँधी ने राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 बनाया, जो मीसा से भी ज्यादा काला और भयंकर है। इसके बाद 1980 के दशक में पंजाब में खालिस्तान के हिंसक आन्दोलन को दबाने के नाम पर 'टाडा' (टेरेरिस्ट एंड डिसरप्शन 'प्रिवेंशन' एक्ट) पास किया गया। इसमें पुलिस के समक्ष दोष स्वीकृति (कन्फेशन) को प्रमाण मानने का प्रावधान किया गया अर्थात् आरोपी पर ही यह भार लाद दिया गया कि वह अपने को निर्दोष साबित करे। यह प्रावधान न्याय के इस मूल सिद्धांत के विरुद्ध था, जिसके तहत हर आरोपी को तब तक निर्दोष माना जाता है जब तक कि उसे दोषी

साबित न किया जाए। इस कानून के तहत पूरे देश में 76 हजार लोग गिरफ्तार किए गए और उनमें से केवल 1.1 प्रतिशत लोगों के खिलाफ ही दोष साबित किया जा सका। टाडा में 19000 (उन्नीस हजार) लोग गुजरात में गिरफ्तार किए गए जब कि 1980 के दशक में वहां 'आतंकवाद' का नामोनिशान नहीं था । हर प्रकार के अहिंसक विरोध को दबाने के लिए टाडा का इस्तेमाल किया जाता रहा। 1990 के दशक में हर तरफ से व्यापक विरोध के कारण टाडा को निरस्त किया गया पर कुछ ही वर्षों बाद 2001 में एक अध्यादेश द्वारा 'पोटा' (प्रिवेंशन ऑफ टेररिज्म एक्ट) लाया गया जिसे बाद में अधिनियम में बदल दिया गया। पोटा के तहत हर तरह की मनमानी की गई।

सीमावर्ती राज्यों के लिए तो दमनकारी कानूनों को लागू करने का सिलसिला 1953 से ही शुरू हो गया। पंजाब, जम्मू–कश्मीर, असम, नागालैंड आदि में इन कानूनों के तहत हर तरह के जुल्म होते रहे हैं। 1958 से सशस्त्र बल विशेष अधिकार अधिनियम (आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पावर एक्ट) लागू है, जिसके चलते सीमावर्ती इलाकों में सुरक्षा बल बेखौफ बलात्कार और हत्याओं जैसे अपराध करता आ रहा है। शर्मिला इरोम इस अधिनियम को रद्द करने की मांग करते हुए 14 वर्षों से अनवरत अनशन पर हैं लेकिन राजनीतिक दलों पर इसका कोई असर नहीं दिखता। 1967 में गैरक़ानूनी कार्य–कलाप निवारक अधिनियम (अनलाफुल एक्टिविटीज प्रिवेंशन एक्ट) बनाया गया और इसके तहत अधिकारी मनमानी करते रहते हैं। इसी प्रकार के काले कानून राज्यों ने भी बना रखे हैं, जिनका दुरुपयोग हर प्रकार के विरोध को कुचल डालने के लिए किया जाता है।

इन कानूनों को हम काले कानून कह रहे हैं तो उसका मुख्य कारण यह है कि इनके तहत किसी अभियुक्त के निर्दोष पाए जाने की संभावना तभी है जब अभियोजन (प्रासेक्युशन–इस्तगासा) को उसे सजा दिलाने में दिलचस्पी न हो। सरकार किस प्रकार काले कानूनों को लागू कर विरोध के स्वर दबा देती है, उसका एक सटीक उदाहरण टाडा कानून है। इसके तहत 76 हजार लोगों को जेल में डाल कर सम्बद्ध सरकारों ने अपने विरोध में होनेवाले आंदोलनों को दबा दिया। आंदोलनों को दबाना उनका तात्कालिक उद्देश्य था, जिसके पूरे होने पर पैसे खर्च कर 76 हजार लोगों को सजा दिलाने में उनकी दिलचस्पी नहीं रही। 'पोटा' के दुरुपयोग का एक उदाहारण वाइको (वी. गोपालसामी) का है। (तामिलनाडु की अब सजायाफ्ता मुख्य मंत्री) जयललिता ने वाइको को पोटा के तहत जेल में बंद कर दिया जबकि प्रधानमंत्री और उच्चतम न्यायालय समेत सारा देश जानता था कि किसी भी तरह वाइको आतंकवादी नहीं हैं लेकिन अंधे कानून के शिकंजे से वाइको को बचाने की स्थिति में कोई नहीं था।

सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम के तहत कोई भी पदाधिकारी किसी की हत्या तक कर सकता है लेकिन उसके खिलाफ कोई मुक़दमा नहीं चल सकता यदि वह (पदाधिकारी) केवल यह कह दे कि उसने अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए बल प्रयोग किया था। आपराधिक दंड संहिता (सीआरपीसी) के तहत भी पुलिस को निरंकुश अधिकार मिले हुए हैं, जिनका वह हमेशा दुरुपयोग करती रहती है।

काले कानूनों की शब्दावली में अपराध और अपराधी तथा अन्य शब्दों को इस तरह परिभाषित किया गया है कि किसी पर भी उन्हें लागू किया जा सकता है और उसके निरपराध पाए जाने की संभावना बहुत कम रहती है। यदि कोई निरपराध पाया भी जाए तो फैसला होने तक वह बरसों–बरसों कैद रहता है। उसके पास कोई दूसरा चारा नहीं होता।

कोई भी कानून जिसमें निर्दोष व्यक्ति को फंसाने की व्यापक संभावना हो, व्यक्ति के निर्दोष पाए जाने पर उसकी छीनी गई स्वतंत्रता के लिए समुचित मुआवजा देने की गुंजाइश न हो और गलत ढंग से फंसानेवाले को सजा देने की व्यवस्था न हो, वह काला कानून ही कहलायेगा। हमारे देश में ऐसे कानूनों की संख्या अनगिनत है।

भारतीय गणतंत्र के काले कानूनों के सन्दर्भ में ब्रिटिश राज के रौलटऐक्ट की याद आए बिना नहीं रहती। इस कानून के विरोध में जब अमृतसर के जालियंवाला बाग में सभा हो रही थी तब जनरल डायर ने सभा पर गोलियों की बौछार कर हजार से

अधिक लोगों की नृशंस हत्या कर दी थी। यह एक बिडंबना ही कही जाएगी कि ब्रिटिश राज में क्रांतिकारी आन्दोलनों को कुचलने के लिए बनाया गया यह काला कानून (रोलट एक्ट) भारतीय गणतंत्र के काले कानूनों की तुलना में उदार था। रोलैट ऐक्ट के तहत यह प्रावधान था कि यदि स्थानीय (प्रांतीय) सरकार को यह प्रतीत हो कि इस कानून के इस्तेमाल की जरूरत है तो सरकार का सक्षम अधिकारी उच्च न्यायालय को अभियुक्त के नाम, पते और अपराध के ब्योरे के साथ सूचित करेगा; (इसके बाद) मुख्य न्यायधीश उच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीशों के एक कोर्ट (अदालत) का गठन करेंगे जो मामले की बंद कमरे में सुनवाई करेगा; इस कोर्ट के आदेश के विरुद्ध अलबत्ता कोई सुनवाई नहीं हो सकती थी।

रोलट कानून के विरोध में 'कोई वकील नहीं, कोई दलील नहीं, कोई अपील नहीं' उक्ति मशहूर है। इसके तहत किसी व्यक्ति को प्रांतीय सरकार के आदेश पर अधिक से अधिक 15 दिनों तक बंदी बना कर रखा जा सकता था। यह भी ध्यान देने की बात है कि इसके तहत केवल आशंका के आधार पर किसी की निवारक नजरबंदी नहीं हो सकती थी; गिरफ़्तारी किसी ठोस आधार पर ही हो सकती थी। रोलैट ऐक्ट के तहत 'मीसा' की तरह रातोंरात हजारों लोगों को गिरफ्तार कर नजरबन्द नहीं किया जा सकता था और ना ही 'टाडा' की तरह 76 हजार लोगों को गिरफ्तार किया जा सकता था। इसके तहत 'पोटा' में जिस तरह वाइको को निरपराध होने पर भी जेल में रखा गया, उस तरह किसी को जेल में नहीं रखा जा सकता था। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि एक विदेशी साम्राज्यवादी सरकार की आत्मा को यह लगा कि यदि किसी 'प्रजा' को किसी विशेष कानून के तहत अपने बचाव से वंचित किया जाता हो तो उसके दोषी होने का फैसला उच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की अदालत करे न कि सामान्य अदालत।रोलट ऐक्ट से भारत के काले कानूनों की तुलना करने पर यही बात सामने आती है कि हमारे देश में जनतंत्र का ढांचा भर रह गया है, उसमें आत्मा का निवास नहीं है।

किसी भी लोकतंत्र में 'मीसा', 'टाडा', 'पोटा' जैसे कानूनों की भरमार न महज एक संयोग है और न ही अकारण। लोकतंत्र में हालाँकि एक आदर्श के रूप में सरकार 'जनता की, जनता द्वारा चुनी हुई, जनता के लिए' होनी चाहिए लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था में अक्सर जनता द्वारा चुनी गई सरकार जनता के लिए नहीं हो कर समाज के एक छोटे विशिष्ट वर्ग के हितों के लिए काम करने लगती है। ऐसे में जनता का विरोध स्वाभाविक है और उसे दबाने के लिए दमनकारी कानूनों की आवश्यकता अवश्यसम्भावी हो जाती है। भारतीय गणतंत्र इसी स्थिति का शिकार है। समाज का जो विशिष्ट वर्ग अंगरेजों के जाने के बाद सत्ता में आया, वह देश की आजादी के लिए तो प्रतिबद्ध और कृतसंकल्प था किन्तु उसकी प्रतिबद्धता गाँधी जी के 'अंतिम आदमी' के हित में न हो कर विशिष्ट वर्गों के हित में थी। 1950 के बाद से हम यह देख रहे हैं कि राज्य की शक्ति और सत्ता का इस्तेमाल समाज के विशिष्ट वर्ग के हित में होता आ रहा है और उसके विरोध में उठते स्वर को दबाने के लिए काले कानूनों की झड़ी लगती रही है।

भारत के संविधान के तीसरे अध्याय में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सूची है। इन मौलिक अधिकारों के हनन के खिलाफ कोई भी नागरिक उच्चतम या उच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटा सकता है। चौथे अध्याय में राज्य के नीति निदेशक तत्त्व हैं यानी उन लक्ष्यों का वर्णन है जिन्हें प्राप्त करना राज्य का कर्तव्य है। अनुच्छेद 37 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "इनमे अधिकथित तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि (कानून) बनाने में इन तत्त्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा।" लेकिन इस भाग में वर्णित उपबंध किसी अदालत के द्वारा लागू नहीं करवाए जा सकते। इस भाग में दिए गए दिशा–निर्देशों और 1950 में भारत की सरकारों की नीतियों के बीच के फर्क से यह स्पष्ट हो जाएगा कि देश की सरकारें संविधान और भारत की जनता के साथ लगातार विश्वासघात करती आ रही हैं और विभिन्न दलों की सरकारों में अधिक विश्वासघात करने की प्रतियोगिता चलती आ रही है।

संविधान के अनुच्छेद 38(2) में स्पष्ट कहा गया है कि राज्य आय की गैरबराबरी को कम से

कम करने और हैसियत की गैरबराबरी को समाप्त करने का प्रयास करेगा। इसके साथ वह अवसर की गैरबराबरी को भी समाप्त करेगा। आज से दस–बारह वर्ष पहले प्रसिद्द अर्थशास्त्री और योजना आयोग के सदस्य दिवंगत अर्जुन सेनगुप्ता की रिपोर्ट के मुताबिक देश के 80 करोड़ या उससे भी अधिक लोग 20 रु. रोज पर जीने को मजबूर थे; दस–बारह साल पहले वाली स्थिति में आज कोई फर्क पड़ा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनरेगा (महात्मा गाँधी ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना) में, जिसे यूपीए सरकार की बहुत बड़ी उपलब्धि माना जाता है, 2006 में 100 दिन के रोजगार में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन मजदूरी 65 रु. थी, जो 2013 में बढ़ कर 124 रु. हो गई। अगर हम रोजाना 124 रु. की मजदूरी को 100 दिनों के बजाए साल भर (यानी 365 दिनों) में बाँट दें तो प्रति व्यक्ति प्रतिदिन मजदूरी 34 रु. हो जाएगी। एक तरफ 34 रु. रोज है तो दूसरी तरफ विश्व के सबसे अधिक धनाढ्य लोगों में कुछ भारतीयों की गिनती की जा रही है।अब तो मध्य वर्ग के नौकरी करनेवाले लोगों की आय प्रति माह लाखों रुपये है। जाहिर है कि आय की गैरबराबरी को कम करने के बजाए अधिक से अधिक करने की नीति चलाई जा रही है।

संविधान के इसी भाग के अनुच्छेद 39 (ग) में कहा गया है कि ''राज्य अपनी नीति का विशिष्टतया इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से 39 (ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन – साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी संकेन्द्रण न हो।" इसके पहले 39 (ख) में कहा गया है कि "समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो जिससे सामूहिक हित को सर्वोत्तम रूप से साधा जा सके।''

देश की सरकारें इन निर्देशों के विरुद्ध आचरण करती रही हैं। देश में आर्थिक गैरबराबरी भयंकर रूप से बढ़ी है; समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व एवं नियंत्रण मुट्ठी भर लोगों के हाथों में सौंपा जा रहा है। संविधान के इस प्रावधान का कि राज्य के नीति–निदेश सिद्धांत अदालतों द्वारा लागू नहीं करवाए जा सकते, लाभ उठाते हुए सरकारों ने 1950 से संविधान और भारत की जनता के साथ लगातार विश्वासघात किया है।

देश में विकास की जो नीति चल रही है (सरकार चाहे किसी भी दल की क्यों न हो) वह संविधान और देश की जनता के विरुद्ध ही रही है। विकास की नीतियों से लाभ केवल मुट्ठी भर धनाढ्य लोगों को होता है, जिसके दुष्परिणाम के शिकार सामान्य लोग होते आ रहे हैं। पीड़ित जनता अपनी तरह से अन्याय के विरुद्ध आंदोलन कर रही है और सरकारें दमनकारी कानून बना कर अपना शासन चला रही है। जनता की त्रासदी यह है कि मुख्य राजनीतिक दलों में कोई भी उसके हितों के साथ नहीं है, ये सभी मुट्ठी भर अमीरों के हितों को साधने में एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करने में लगे हैं। निकट भविष्य में जनता को उनसे दमन के अलावा और कुछ मिलने की कोई संभावना नहीं दिखलाई पड़ती।

■

इस साल अपरैल में भारत सरकार ने पड़ोसी स्कूल वाली कोठारी आयोग की सिफारिश का मजाक उड़ाते हुए नई शिक्षा-नीति लागू की है। सिर्फ शिक्षा को अनिवार्य करने से समस्या हल नहीं होने वाली है, इस शिक्षा का स्वरूप क्या हो, कैसा हो, यह भी सोचना जरूरी है। एक-दो किलोमीटर की दूरी पर प्राइवेट स्कूल, जिसमें पचहत्तर प्रतिशत बच्चे नवधनाढ्य वर्ग के हों और उसी में आरक्षित के नाम पर पच्चीस प्रतिशत बच्चे आस-पास की गरीब बस्तियों के भी जबरन थोप दिए जाएं, यह कोठारी आयोग की पड़ोसी स्कूल की परिकल्पना कतई नहीं है। हर तबके के बच्चे साथ-साथ पढ़ें यही पड़ोसी स्कूल का मतलब है।

हमने आज हाजी के इतने सालों बाद भी अपने देश के लोगों के अनुरूप कोई शिक्षा प्रणाली विकसित नहीं की है। जो प्रणाली अंग्रेजों ने हमें दी उसी को हमने ज्यों-का-त्यों ले लिया। औद्योगिक देशों और कृषिप्रधान देशों की शिक्षा एक-सी हो सकती है? आज भी हम अपने बच्चों को मानो दूसरे देशों की जरूरत के हिसाब से पढ़ा रहे हैं।

—ज्योत्स्ना मिलन

(शिक्षा की बुनियाद, पृ.12)

देश की पूंजी देश के नाम, नहीं विदेशी तेरा काम

अनिल रघुराज

पूंजी की कमी की कसक कभी उस किसान से पूछिए जो तिलक-तलवार का सारा गुरूर तोड़कर शहर में पांच-सात हज़ार की चौकीदारी या ड्राइवरी तक करने को तैयार हो जाता है। गांव के कई ऐसे बाबूसाहब लोगों को जानता हूं जिन्होंने लाख-दो लाख घूसकर बेरोजगार ग्रेजुएट लड़के को स्वीपर की पक्की नौकरी दिलवाई है। नौकरी से घर में पूंजी आती है तो खेती किसानी चलती है और हारी-बीमारी व नाते-रिश्तेदारी भी निभ जाती है।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने पूंजी की इसी कसक और बेरोजगारी की तड़प के इर्दगिर्द अपने 'मेक-इन इंडिया' कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने का मंसूबा पाला है। वे जापान से लेकर अमेरिका तक विदेशी कंपनियों से गुहार लगा चुके हैं, 'आप अपनी पूंजी भारत ले आओ, हमारे यहां सस्ता श्रम है, उत्पादन करो, निर्यात करो। इससे हमारे लोगों को रोजगार मिलेगा और वे संपन्न होंगे तो आपको विशाल बाज़ार मिल जाएगा।'

मोदी सरकार कहती है कि हम मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर को बढ़ावा देना चाहते हैं क्योंकि वहीं से रोज़गार के नए अवसर पैदा होंगे। आखिर देश के सामने हर साल सवा करोड़ नए लोगों को रोज़गार देने की चुनौती जो है। देश में उद्योग धंधे बढ़ें, खेती-किसानी आधुनिक हो, लोगों को रोज़गार मिले, संपनन्ता बढ़े, इससे किसे इनकार हो सकता है। लेकिन मुंह में राम, बगल में छूरी की बात किसी भी सच्चे देशभक्त को स्वीकार नहीं होनी चाहिए।

दरअसल मोदी सरकार विदेशी और बड़ी पूंजी की दलाली की उसी नीति को आगे बढ़ा रही है जो पिछले कई दशकों से कांग्रेस सरकार करती रही है। कांग्रेस दलाली में नख-शिख तक डूबी हुई थी और रक्षा सौदों से लेकर अत्योदय स्कीमों तक में दलाली खा लेती थी। भाजपा का मंत्र यह है कि बड़ा खाओ और वहां खाओ, जहां सबकी नज़र आसानी से न जाए। आपको याद होगा कि इस सरकार ने आते ही सबसे पहले प्रतिरक्षा उत्पादन में 100 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) का प्रस्ताव रखा था। बाद में हल्ला मचा तो उसे एफडीआई की सीमा 49 प्रतिशत तक सीमित करनी पड़ी। खैर, भाजपा और मोदी का असली चाल-चरित्र और चेहरा अवाम के सामने आने में ज्यादा देर नहीं लगेगी। फिलहाल हम उसके 'मेक-इन इंडिया' की हकीकत को समझने की कोशिश करते हैं।

मोदी जिस पूंजी को विदेश से पुचकार-पुचकार कर बुला रहे हैं, वो कतई बौडम नहीं और हमेशा अपने फायदे के लिए आती है। अभी तक अमेरिका हर महीने अरबों डॉलर के नोट छापकर सिस्टम में डाले हुए था तो वे नोट कमाई का जरिया खोजने के लिए भारत जैसी उभरती अर्थव्यवस्थाओं का रुख किए हुए थे। अब भी उनका प्रवाह जारी है क्योंकि अमेरिका में कम से कम मार्च 2015 तक ब्याज दर शून्य के आसपास ही रखी जानी हैं, जबकि भारत सरकार के सर्वाधिक सुरक्षित बांडों में भी उन्हें 8 प्रतिशत सालाना ब्याज मिल जाता है। बस, उनकी ख्वाहिश यह है कि डॉलर-रुपए की विनिमय दर में ज्यादा उतार-चढ़ाव न हो। इधर हाल ही में जापान ने भी हर साल नए नोट छापकर सिस्टम में 80 लाख करोड़ येन डालने का ऐलान किया है।

संकटग्रस्त विकसित देशों की यही निर्बाध और दो कौड़ी की पूंजी कमाई के साधन झटकने के चक्कर में भटक रही है। अधिकतम सुरक्षा के बीच अधिकतम मुनाफा कमा सके, इसके लिए उसने दुनिया में मोदी जैसी तमाम सरकारों पर दबाव बना रखा है। इसलिए मोदी सरकार उसे बुलाकर भारतीय अवाम या उद्योग धंधों का नहीं, बल्कि उसकी असुरक्षा दूर कर रही है। यह काम देश की अपनी पूंजी बखूबी कर सकती है और हम अपनी पूंजी के दम पर देश के मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर को बढ़ावा दे सकते हैं और घरेलू ही नहीं, निर्यात बाज़ार पर भी पकड़ बढ़ा सकते हैं।

देश के उद्यमों में लग सकनेवाली पूंजी का कतई अभाव नहीं है। लेकिन भारत सरकार इसे सायास विकसित नहीं होने देना चाहती क्योंकि ऐसा हो गया तो सस्ते जनधन पर हाथ साफ करने का उसका महत्वपूर्ण जरिया खत्म हो जाएगा। कुछ आंकड़ों पर नज़र डालने से पहले मोटी-सी जानकारी। विदेशी पूंजी देश में दो रूप में आती है। एक, विदेशी संस्थागत या पोर्टफोलियो निवेश

(एफआईआई/एफपीआई) के रूप में जो शेयर बाज़ार या सरकारी बांडों वगैरह में लगाई जाती है और एकदम अस्थाई किस्म की होती है तथा यहां घाटा व कहीं और फायदा देखते ही फौरन उड़न-छू हो जाती है। दो, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) के रूप में जो उद्योग-व्यापार में लगती है। यह थोड़ा स्थाई स्वभाव की होती है। लेकिन इसका भी मूल मकसद अधिकतम मुनाफा कमाकर पैतृक कंपनी की पूंजी और आस्तियों को बढ़ाना होता है।

कितना आता है विदेशी निवेश

साल 2013 में एफआईआई ने भारतीय शेयर बाज़ार में कुल 1,13,136 करोड़ रुपए का निवेश किया। लेकिन ऋण बाज़ार से उन्होंने 50,848 करोड़ रुपए का निवेश निकाल लिया तो उनका शुद्ध निवेश 62,288 करोड़ रुपए का रहा। चालू साल 2014 में सितंबर तक इक्विटी में 83,437 करोड़, ऋण में 1,18,342 करोड़, कुल 2,01,780 करोड़ रुपए का निवेश। अक्टूबर में उन्होंने शेयर बाज़ार से 1695 करोड़ रुपए निकाले हैं। अभी एक तरह का उन्माद चल रहा है। लेकिन आगे का नज़रिया अपनाकर हम मान सकते हैं कि एफआईआई इक्विटी व ऋण बाज़ार में हर साल औसतन 1.50 लाख करोड़ रुपए का निवेश करेंगे।

एफडीआई की बात करें तो 2013 में भारत में आया प्रत्यक्ष विदेशी निवेश 2800 करोड़ डॉलर (1,77,884 करोड़ रुपए) का रहा है। रिजर्व बैंक के आंकड़ों की बात करें तो मार्च 2014 में खत्म वित्त वर्ष 2013-14 में भारत में आया एफडीआई 1,86,830 करोड़ रुपए का था। इस तरह एफआईआई और एफडीआई को मिला दें तो देश में आनेवाली कुल रकम मोटामोटी 3.50 लाख करोड़ रुपए के आसपास ठहरती है।

देश का अपना जनधन कितना

अब देखते हैं कि भारत में वो जनधन कितना है जो बैंकों, बीमा कंपनियों और लघु बचत योजनाओं में जमा होता है। इसमें हम म्यूचुअल फंडों में किए गए निवेश को नहीं जोड़ रहे हैं क्योंकि वो एक तरह की रिस्क पूंजी है जो किसी न किसी रूप में देश के औद्योगिक विकास में योगदान दे रही है।

मार्च 2013 तक डाकघर बचत, सावधि व आवर्ती खातों और मंथली इनकम स्कीम के साथ पीपीएफ (पब्लिक प्रोविडेंट फंड) के 41,121 करोड़ रुपए को मिलाकर कुल 3,81,729 करोड़ रुपए जमा थे। इसके अलावा किसान विकास पत्र और वरिष्ठ नागरिक बचत स्कीम वगैरह में 2,18,094 करोड़ रुपए पड़े थे। इस तरह इन लघु बचत स्कीमों में 5,99,823 करोड़ रुपए पड़े थे। इन स्कीमों का लगभग सारा जनधन केंद्र या राज्य सरकारों को ऋण के रूप में मिलता है जिस अधिकतम ब्याज की दर 8.5 प्रतिशत है।

अब आते हैं बैंकों के जमा जनधन पर। भारतीय रिजर्व बैंक के ताजा आंकड़ों के मुताबिक 17 अक्टूबर 2014 तक देश के अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों के बचत व चालू खालों व सावधि जमा के रूप में कुल 82,13,870 करोड़ रुपए का जनधन पड़ा था। यह रकम मार्च 2014 में खत्म वित्त वर्ष के अंत में 76,69,460 करोड़ रुपए थी जिसमें से 20,05,441 बचत खातों में पड़े थे।

अब बात बीमा कंपनियों की। बीमा नियामक संस्था, आईआरडीए की सालाना रिपोर्ट के मुताबिक मार्च 2013 में खत्म वित्त वर्ष में सभी जीवन बीमा कंपनियों का कुल निवेशित धन या एयूएम (एसेट अंडर मैनेजमेंट) 17,44,894 करोड़ रुपए था। इसमें से अकेले सरकारी कंपनी भारतीय जीवन बीमा निगम (एलआईसी) का निवेश 14,02,991 करोड़ रुपए का था जिसमें से 4,69,741 करोड़ रुपए का निवेश उसने केंद्र सरकार की प्रतिभूतियों और 2,40,839 करोड़ रुपए का निवेश राज्य सरकारों की प्रतिभूतियों में कर रखा था। रिजर्व बैंक के अनंतिम आंकड़ों के मुताबिक एलआईसी ने मार्च 2014 में खत्म वित्त वर्ष में 15,11,133 करोड़ रुपए के निवेश में से 11,94,261 करोड़ रुपए सरकारी क्षेत्र में लगा रखे हैं। यहां हम जटिलता को कम करने के लिए साधारण बीमा कंपनियों का आंकड़ा छोड़ देते हैं।

फिर जरूरत कहां विदेशी के पीछे भागने की

कुल मिलाकर देखें तो बैंकों, बीमा कंपनियों और लघु बचत स्कीमों में लगभग 105 लाख करोड़ रुपए का जनधन जमा है। इसमें से लघु बचतों का सारा, बीमा कंपनियों का तीन-चौथाई और बैंकों में जमाधन का कम से कम 22 प्रतिशत (एसएलआर) हिस्सा सरकार सुविधाजनक व सस्ते ऋण के रूप में हासिल कर लेती है। इसी से भरती है वो अपना राजकोषीय घाटा या उधार खाता जो वित्त वर्ष 2014-15 में 5.31 लाख करोड़ रुपए का रखा गया है। सरकार अगर सचमुच जनधन का योगदान देश के औद्योगिक विकास में करना चाहती है तो ऐसा करती कि 105 लाख करोड़ रुपए का 4 प्रतिशत निवेश रिस्क पूंजी के रूप में उद्योग धंधों में लगता। यह रकम 4.2 लाख करोड़ रुपए बनती है जो एफआईआई

और एफडीआई की कुल रकम 3.5 लाख करोड़ से 70,000 करोड़ रुपए ज्यादा है। ऐसा करने से यह होता है कि देश में पूंजी से जो अतिरिक्त पूंजी बनती वो विदेश न जाकर देश के निवेशकों के खाते में ही रहती है जिससे भावी विकास के लिए देश किसी पूंजी का मोहताज़ नहीं रह जाता है।

चीन दबा नहीं, किया विदेशी पूंजी का इस्तेमाल

बहुत से लोग कहते हैं कि चीन ने भी अपने औद्योगिक विकास में विदेशी पूंजी का जमकर सहारा लिया। लेकिन हकीकत यह है कि उसने विदेशी पूंजी को विशेष आर्थिक क्षेत्रों तक बांधे रखा और उससे अमेरिका से लेकर यूरोप तक की छोटी-छोटी चीजों के बाज़ार पर छा गया। उसी तरह जैसे वह भारत के लिए दिवाली के दीये और लक्ष्मी-गणेश तक बनाता है। यह भी कहा जाता कि उनके मजदूरों के भयंकर दमन से सस्ती चीजें बनवाईं। सच क्या है, नहीं पता। लेकिन अगर ऐसा ही होता तो वहां का प्रति व्यक्ति जीडीपी 3583.38 डॉलर (पीपीपी या क्रय शक्ति समता के आधार पर 11524.57 डॉलर) और भारत का प्रति व्यक्ति जीडीपी 1165 डॉलर (पीपीपी आधार पर 5238.02 डॉलर) नहीं होता।

चीन ने विदेशी पूंजी का इस्तेमाल ज़रूर किया। लेकिन अपनी शर्तों पर। तभी वहां की अलीबाबा.कॉम जैसी कंपनियां अमेरिकी पूंजी बाज़ार के सीने पर चढ़कर 2500 करोड़ डॉलर जुटा लेती हैं। इसके अलावा चीन ने निर्यात को बढ़ाने के लिए अपनी मुद्रा को सायास दबाकर रखा ताकि चीनी माल की कीमत दुनिया के बाज़ार में डॉलर में सस्ती बनी रहे। चीन ने देशी हितों को सर्वोपरि रखकर ही तमाम नीतियां बनाई हैं। भारत की सरकारों की तरह कभी उसने विदेशी पूंजी की दलाली नहीं की।

रोजगार सृजन है बड़ा झांसा

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी कहते हैं कि उनके मेक इन इंडिया कार्यक्रम से देश में रोजगार के करोड़ों अवसरों का सृजन होगा। मोदी जी बड़ी पूंजी की सेवा करते हैं और विदेशी पूंजी को बुलाने में जुटे हैं। उन्हें यह अच्छी तरह पता है कि बिजनेस करने की माकूल स्थितियां नहीं हुईं तो न केवल विदेशी पूंजी भारत आने से कतराएगी, बल्कि देश के बड़े उद्योगपति भी विदेश में पूंजी लगाने लगे हैं। वे ऐसा करते रहे हैं, कर रहे हैं और आगे भी करेंगे। उनके लिए राष्ट्रवाद का कोई मतलब नहीं होता। वैसे भी राष्ट्रवाद का इस्तेमाल अब तम्बाकू, गुटखा और चिटफंड कंपनियां करने लगी हैं।

बिजनेस करने की आसानी के बारे में विश्व बैंक द्वारा जारी ताज़ा रैंकिंग में दुनिया के 189 देशों में भारत 142वें नंबर पर आ गया है। पिछले साल इसका नंबर 134वां था। ऐसे में विदेशी या बड़ी पूंजी तो मैन्यूफैक्चरिंग में हाथ लगाने से रही। हां, जहां-जितना दलाली खाने का मौका मिलेगा, वह कतई नहीं चूकेगी। वैसे भी मोदी जिस संगठित मैन्यूफैक्चरिंग क्षेत्र की बात कर रहे हैं, वह रोजगार देने के मामले में बड़ा कच्चा रहा है।

आपको जानकर अचंभा होगा कि केंद्रीय श्रम व रोजगार मंत्रालय के आंकड़ों के अनुसार वित्त वर्ष 2011-12 में देश के संगठित क्षेत्र में कुल 2.97 करोड़ लोगों को रोज़गार मिला हुआ था। इसमें से 1.76 करोड़ सरकारी क्षेत्र में और 1.21 करोड़ निजी क्षेत्र में कार्यरत थे। तब लाइव रजिस्टर में दर्ज लोगों की संख्या 4.48 करोड़ थी। देश में रोजगार की सही स्थिति के बारे में बड़ा घालमेल है। मोटामोटी यह पता है कि 2011-12 में देश कृषि क्षेत्र में 48.9 प्रतिशत, उद्योग में 24.3 प्रतिशत और सेवाओं में 26.9 प्रतिशत रोजगार मिला हुआ था। बाकी कहां कितने लोग बेरोजगार हैं, उनमें से कितने पढ़े-लिखे और कितने अपढ़ हैं, ऐसा कोई अद्यतन और साफ आंकड़ा सरकार के पास नहीं है।

अभी जुलाई 2014 में पेश आर्थिक सर्वेक्षण के मुताबिक साल 2004-05 से 2011-12 के सात सालों के दौरान उद्योगों में सबसे ज्यादा 2.50 करोड़ रोजगार कंस्ट्रक्शन क्षेत्र में मिला। इन सात सालों में मैन्यूफैक्चरिंग क्षेत्र में मात्र 60 लाख नए रोजगार पैदा हुए, जबकि अभी की स्थिति में हर साल कम से कम एक करोड़ रोजगार के नए अवसरों को पैदा करने की जरूरत है।

मोदी सरकार अगर रोज़गार के मौके पैदा करने के बारे में वाकई गंभीर होती तो वह पहले समस्या का सही-सही पता लगाती। अभी भारत सरकार के पास रोजगार या बेरोजगारी का सबसे ताज़ा आंकड़ा जून 2012 तक का है। गौरतलब है कि अमेरिका की मौद्रिक नीति में बांड खरीद के छह साल तक चले सिलसिले के पीछे का लक्ष्य था कि बेरोजगारी की दर को 6.5 प्रतिशत पर लाना है। वहां हर महीने के पहले हफ्ते में ठीक पिछले महीने तक की बेरोजगारी के आंकड़े आ जाते हैं। यानी, 7 दिसंबर से पहले नवंबर के विस्तृत आंकड़े सरकार के पास होते हैं। तब वो अपनी नीति बनाती है। जिस भारत सरकार के पास दो साल पुराने रोजगार के आंकड़े हों, वो बेरोजगारी को दूर करने की कोई कारगर नीति कैसे बना सकती है।

मतलब साफ है कि मोदी अगर मेक-इन इंडिया

योजना के जरिए रोजगार सृजन की बात कर रहे हैं, तो वे झूठा सब्जबाग दिखा रहे हैं। अगर ऐसा नहीं करके वे उस सूक्ष्म, लघु व मझोले उद्योग (एमएसएमई) क्षेत्र की मुश्किलों का समाधान निकालते जो कृषि के बाद सबसे ज्यादा रोज़गार देता है तो अच्छा होता आज हमारे यहां सेवा क्षेत्र के उभार की बात की जाती है लेकिन वहां का सच कुछ और है।

देश के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में अभी कृषि का योगदान 13.9 प्रतिशत, उद्योग का 26.2 प्रतिशत और सेवाओं का योगदान 59.9 प्रतिशत है। लेकिन यह नहीं बताया जाता कि इस सेवा क्षेत्र में करीब 54 प्रतिशत योगदान स्वरोजगार में लगे लोगों का है। यानी, पान से लेकर परचून की दुकान और ढेला-खोमचा व एकाध ट्रक-टैक्सी चलाने वालों का है। मोदी सरकार अगर रोजगार के अवसरों के बारे में गंभीर होती तो स्वरोजगार में लगे इन लोगों की मुश्किल आसान करती। आज सब्जी के ढेले वाला हर दिन 3 रुपए देकर 100 रुपए का कर्ज उठाकर धंधा करता है। उसके लिए ब्याज की दर 90 प्रतिशत महीने और 1080 प्रतिशत सालाना की बनती है। उसे कोई बैंक ऋण नहीं देता। इसी तरह एमएसएमई क्षेत्र को 22 से 30 प्रतिशत ब्याज पर बैंकों से ऋण मिलता है, जबकि अडानी, अंबानी, टाटा-बिड़ला या विजय माल्या जैसे बड़े पूंजी वालों को बैंक 10-12 प्रतिशत ब्याज पर ऋण देते रहे हैं।

मोदी सरकार एमएसएमई क्षेत्र के लिए जुबानी जमाखर्च जरूर करती है। कभी-कभार कुछ शगूफे छोड़ती रहती है। मसलन, हाल ही में एमएसएमई मंत्रालय ने अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) के साथ एक एमओयू पर हस्ताक्षर किए। कहा गया कि यह एमओयू एक ऐसी तकनीकी साझेदारी का आधार बनेगा जिसका मुख्यं मकसद भारत में और ज्यादा व बेहतर गुणवत्ता वाले रोजगारों का सृजन करना होगा। लेकिन यह सारा कुछ बस झुनझुना है। पहले भारतीय जनसंघ और अब भारतीय जनता पार्टी का मूल मकसद सामंतशाही का पोषण और दलाल व बड़ी पूंजी का सेवा करना रहा है और नरेंद्र मोदी उनके प्रधान सेवक की भूमिका निभा रहे हैं। यह सच धीरे-धीरे व्यापक भारतीय अवाम के सामने भी खुल जाएगा।

काले धन के दो चेहरे

अंत में एक बात काले धन पर और दूसरी बात जनधन योजना पर। हमें साफ समझना होगा कि एक काला धन वो है जो सोने, जमीन जायदाद और विदेशी खातों में जाकर बंध जाता है। दूसरा काला धन वो है जो धंधे में लगता है, कुछ नहीं तो घर-परिवार के रोजगार का साधन बनता है। लेकिन धंधे में मार्जिन कम, खर्च ज्यादा होने और तमाम सरकारी उलझनों के लिए कर योग्य आमदमी में दर्ज नहीं किया जाता है तो काम का होने के बावजूद काला हो जाता है। वैसे इसमें हम आम लोगों द्वारा सोने की खरीद में लगाए गए कैश धन को भी जोड़ सकते हैं। काले धन के इन दो रूपों को हमें समझना होगा। तभी इस समस्या का सार्थक समाधान निकल सकता है।

जनधन में धुलाई जन और धन की

दूसरी बात मोदी सरकार ने बड़े जोरशोर से जनधन योजना चलाने का हल्ला मचा रखा है। बताया जा रहा है कि 18 अक्टूबर 2014 तक 6.02 करोड़ नए बैंक खाते खोले जा चुके हैं। दावा है कि 26 जनवरी 2015 तक 7.5 करोड़ परिवारों के बैंक खाते खोलने का लक्ष्य पूरा कर लिया जाएगा। अच्छी बात है। लेकिन ज़मीनी हकीकत यह है कि इससे भी सरकार को ही लाभ होगा। बैंकों की ज्यादा रकम से उसे ज्यादा उधार जुटाने में सहूलियत हो जाएगी। जिस गरीब की कमाई नहीं हो रही है, वह आखिर बचाएगा कहां से और फिर बैंक खाते को रखकर करेगा क्या? पहले सरकार अमीरों के नकद या अघोषित काले धन को निकालने को मुख्य धारा में लाने के लिए टैक्स छूट वाली वीडीआईएस जैसी योजनाएं निकाला करती थीं। मोदी सरकारें ने उनको अभयदान देकर गरीबों के नकद को बैंकिंग के दायरे में बाँधना शुरू कर दिया है। कांग्रेस सरकार यह काम वित्तीय समावेश के नाम पर कर रही थी। मोदी सरकार ने इसे जनधन योजना का नाम दे दिया है।

ऐसी भी खबरें आई हैं कि जनधन योजना का लाभ तमाम धंधेबाज़ कालेधन को सफेद करने के लिए कर रहे हैं। वे छोटी-छोटी रकम बहुत सारे खातों में डालकर अवैध कमाई को वैध बना रहे हैं। इन्हें अंग्रेजी में 'स्मर्फर' कहा जा रहा है। इस तरह जनधन योजना में सरकार एक तरफ जन की धुलाई कर रही है, दूसरी तरह उसके ऊपर वरदहस्त रखनेवाले धंधेबाज़ धन की धुलाई में लगे हुए हैं।

(लेखक आर्थिक व वित्तीय मसलों की स्वतंत्र वेबसाइट अर्थकाम.कॉम के संपादक हैं।)

■

शिक्षा पर विशेष

इधर मैकाले उधर गांधी

सुनील

पिछले दिनों केरल में त्रिशूर के पास एक स्कूल में जाने का मौका मिला। देश में चल रहे स्कूलों से यह काफी अलग था। करीब पाँच एकड़ जमीन में जंगल है, बगीचा है, खेत हैं और स्कूल भी है। कक्षाओं के लिए खुला शेड है, जिस पर खपरैल या नारियल के पत्तों की छत है। बच्चे कक्षा में पढ़ने के अलावा खेत और बगीचे में भी काम करते हैं। मेरा स्वागत नारियल के पानी से किया गया और बाद में वहीं लगे केले मैंने खाए।

स्कूल के बच्चों के साथ मेरी सभा का संचालन एक वरिष्ठ छात्रा ने किया। सबसे पहले छात्राओं के समूह ने एक गीत से स्वागत किया जो कई भारतीय भाषाओं में था। मैंने उनसे पूछा कि मैं हिंदी में बोलूँ या अंग्रेजी में, तो ज्यादा बच्चों ने हिंदी के पक्ष में हाथ खड़े किए। इस स्कूल में चार भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं-मलयालम, हिंदी, अंग्रेजी और अरबी। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। क्यों, मैंने पूछा तो स्कूल संचालक ने बताया कि वे केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड का पाठ्यक्रम पढ़ाते हैं और उसमें मलयालम माध्यम का प्रावधान नहीं है। फिर भी वे तीसरी कक्षा तक मलयालम में पढ़ाते हैं। एक कारण शायद यह भी होगा कि पालक भी अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा चाहते हैं। फिर भी हिंदी पर उनका बहुत आग्रह है।

संचालक ने मुझसे कहा कि अच्छे हिंदी शिक्षक खोजने में मैं कुछ मदद करूँ। इस स्कूल का संचालन एक मुस्लिम दंपत्ति कर रहे हैं। लेकिन बच्चे सभी धर्मों के हैं और संचालकों का सभी धर्मों के प्रति आदर के भाव पर आग्रह है।

बच्चों की जागरूकता के स्तर से मैं काफी प्रभावित हुआ। मैंने उनसे पूछा कि वे बड़े होकर क्या बनना चाहते हैं तो जवाब मिला कि अच्छे नागरिक और अच्छा इंसान। मुझे शंका हुई कि कहीं सिखाया हुआ जवाब तो नहीं है। पर जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि ऐसा नहीं है। मेरे वक्तव्य के बाद उनके सवाल पूछने की बारी थी, तो एक ने पूछा, राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर अच्छी होने पर भी देश की हालत खराब क्यों है? बाद में दो छात्राओं ने मुझसे देर तक बात की। वे इरोम शर्मिला के बारे में जानती थीं। मगर क्या पूर्वोत्तर से सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून हटाना उचित होगा, एक ने मुझसे पूछा। पूर्वोत्तर, कश्मीर, माओवाद आदि पर फिर विस्तार से बात हुई।

इस स्कूल के बच्चों से मेरी पहली मुलाकात नर्मदा घाटी में नर्मदा बचाओ आंदोलन के पच्चीस वर्ष पूरे होने पर आयोजित कार्यक्रम में हुई। वे बच्चे खूब जोश से नारे लगा रहे थे, गीत गा रहे थे, लोगों से जाकर हिंदी में बात कर रहे थे। मैंने उन्हें सुबह झाड़ू से सफाई करते देखा। उनसे पूछा कि तुम्हें यहाँ घूमने में मजा आ रहा है, तो एक लड़की ने कहा कि हम घूमने नहीं, सीखने आए हैं। इसके पहले वे अयोध्या के मुद्दे पर उत्तर भारत में आयोजित एक सद्भाव यात्रा में भी शरीक हुए थे। दिसंबर के अंतिम सप्ताह में उनका पाँच दिन का शिविर केरल की एक नदी किनारे लगने वाला है, जो औद्योगिक प्रदूषण से प्रभावित हो रही है। केरल में ही प्लाचीमाडा में कोकाकोला के संयंत्र के खिलाफ संघर्ष से भी ये बच्चे अच्छी तरह परिचित हैं। उन्होंने बताया कि वे कोकाकोला, पेप्सी आदि शीतल पेय नहीं पीते हैं।

इस स्कूल का नाम 'सल-सबील ग्रीन स्कूल' है और केरल में बह रही पर्यावरण चेतना की बयार का यह एक हिस्सा है। सल-सबील अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है-'स्वर्ग का झरना'। इस स्कूल के नए बन रहे भवन का शिलान्यास मेधा पाटकर ने किया था। स्कूल के संचालक हुसैन जनांदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय के केरल प्रांत के संयोजक हैं। वे बच्चों की शिक्षा को जन-संघर्षों, पर्यावरण चेतना, सामाजिक सरोकारों, नैतिक मूल्यों और धार्मिक सद्भाव से जोड़ने की कोशिश कर रहे हैं।

इस स्कूल में दसवीं कक्षा तक पढ़ाई होती है। साधनों के अभाव के कारण कोई छात्रावास नहीं है। बच्चे आस-पास के इलाके से प्रतिदिन बस से स्कूल आते हैं। फीस तीन-चार सौ रुपए महीने हैं, जो उस इलाके के

साधारण परिवारों की हैसियत के अंदर है। इस मामले में यह स्कूल अन्य वैकल्पिक स्कूलों से अलग है। 'ऋषि वैली' जैसे स्कूलों ने भी वैकल्पिक शिक्षा के अच्छे प्रयोग किए हैं, लेकिन वे काफी महंगे हैं। कृष्णमूर्ति फाउंडेशन, अरविंद आश्रम आदि द्वारा संचालित अच्छे स्कूल अधिकतर संपन्न उच्चवर्ग के बच्चों के लिए आरक्षित हो गए हैं। दयानंद एंग्लो वैदिक सोसायटी के डीएवी स्कूल और कॉलेज भी आम ढर्रे में ढल गए हैं और व्यावसायीकरण की गिरफ्त में आ रहे हैं। संघ परिवार द्वारा संचालित सरस्वती विद्यालयों में सांप्रदायिकता और संकीर्णता की सोच का खतरा तो है ही, व्यावसायिकता का प्रवेश वहाँ भी हो गया है।

शिक्षा के मामले में आज यही सबसे बड़ा सवाल है। देश का हर स्कूल सल-सबील स्कूल कैसे बने? अच्छी शिक्षा त्रिशूर जिले के उस इलाके के तीन-चार सौ बच्चों तक सीमित न रहकर देश के सारे- तीस करोड़ बच्चों को कैसे मिले? अच्छी शिक्षा से आशय अच्छे नंबर लाने और आईआईटियन या आईएएस तैयार करने से नहीं है। अच्छी शिक्षा से मतलब आनंददायक, रुचिकर, बहुमुखी, बहुआयामी शिक्षा से है जो महज नौकरशाह या सायबर-कुली तैयार करने के बजाय बच्चे की विविध प्रतिभाओं का विकास करते हुए जिम्मेदार नागरिक और अच्छे इंसान तैयार करे।

आज हमारे स्कूलों में ठीक उल्टा होता है। पढ़ाई का मतलब सिर्फ रटना है और रटना कभी भी आनंददायक नहीं हो सकता। अंग्रेजी माध्यम की होड़ में यह कष्ट और बढ़ गया है, क्योंकि एक विदेशी भाषा में रटना ज्यादा मुश्किल है। बस्ते का बोझ बढ़ता जा रहा है। ऊपर से बच्चों को स्कूल के अलावा ट्यूशन और कोचिंग में जाना पड़ता है। माता-पिता बच्चों को छोटी उमर से ही प्रतिस्पर्धा की मशीन में धकेल देते हैं और उनका बचपन छीन लेते हैं।

स्कूल की छुट्टी होने पर बच्चे इतने प्रफुल्लित होते हैं और इस तरह घर की ओर दौड़ लगाते हैं मानो जेल से छूटे हों। शिक्षा खेल-खेल में क्यों न हो, गीत-नाच-कहानी-नाटक के साथ क्यों न हो, सैर-सपाटे के साथ क्यों न हो, इस पर कभी सोचा ही नहीं गया। आखिर भूगोल की पढ़ाई नदियों और पहाड़ों की सैर करते हुए अर्थशास्त्र की पढ़ाई खेतों-बाजारों में घूमते हुए और विज्ञान की पढ़ाई कुदरत और आस-पास के वातावरण में प्रयोग करते हुए ही सबसे अच्छी हो सकती है। लेकिन हमने पढ़ाई को परिवेश और समाज से पूरी तरह काट कर बंद कमरों में किताबी ज्ञान को रटने तक सीमित कर दिया है। 'तारे जमीं पर' फिल्म के नन्हें नायक की तरह अगर बच्चा उबाऊ कक्षा के श्यामपट्ट की तरफ न देखकर खिड़की के बाहर चिड़िया या तितली को देखने लगता है तो वह डाँट और मार खाता है, जबकि दोष इस शिक्षा व्यवस्था का होता है।

एक बच्चे के अंदर कई प्रतिभाएँ हो सकती हैं। वह एक अच्छा खिलाड़ी, कलाकार, नेता, किसान, मछुआरा, कारीगर या मिस्त्री हो सकता है। समाज में इन सबकी जरूरत है। पर हमारी शिक्षा-व्यवस्था इन सारी प्रतिभाओं और कौशलों को नजरअंदाज करके महज किताबी ज्ञान को रटने और उसे परीक्षा भवन में ढाई-तीन घंटे में उगल देने की प्रतिभा और क्षमता को ही पहचानती और पुरस्कृत करती है। अच्छी पढ़ाई के नाम पर भी महज ज्यादा से ज्यादा जानकारी को बच्चे के दिमाग में ठूँस देने की कोशिश होती है। इस चक्कर में देश के करोड़ों बच्चों की ज्यादा उपयोगी विविध प्रतिभाओं का तिरस्कार और उपेक्षा होती जाती है। यह उनके साथ अन्याय और देश की प्रगति में बड़ी बाधा है।

इस तरह की शिक्षा का सामाजिक सरोकारों, नैतिक मूल्यों और देश की जरूरतों से अलगाव और कटाव भी स्वाभाविक है। अच्छे अंक लेकर ऊँची कमाई वाली नौकरी पाना इसका एकमात्र लक्ष्य और सफलता की कसौटी बन गया है। ऐसी शिक्षा के सफल उत्पाद स्व-केंद्रित, स्वार्थी और भ्रष्ट ही बनेंगे। पिछले कुछ समय से शिक्षा में व्यावसायीकरण और बाजारीकरण की जो आँधी चली है, उसने इन विकृतियों को और बढ़ाया है। सरकार ने भी शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' कर दिया है। तब से घोषित रूप से शिक्षा अच्छे नागरिक और अच्छे इंसान तैयार करने और लोकतांत्रिक आजाद भारत के नवनिर्माण का लक्ष्य छोड़कर महज वैश्विक पूँजीवादी बाजार के लिए संसाधन तैयार करने का माध्यम बन गई है। अफसोस की बात है कि इसके बावजूद देश के कई मूर्धन्य शिक्षाशास्त्री इसी की सेवा में जुटे हैं।

भारतीय शिक्षा की यह दयनीय हालत कई अन्य

मामलों की तरह औपनिवेशिक विरासत के कारण है। इसकी नींव लॉर्ड मैकाले ने अंग्रेज साम्राज्य की जरूरत के हिसाब से डाली थी। उन्हें महज बाबू और हुक्म का पालन करने वाले कारिंदे की जरूरत थी। इसलिए रचनात्मकता, मौलिकता, जिज्ञासा, विविधता आदि से रहित इस शिक्षा में सिर्फ अक्षरज्ञान, कागजीज्ञान और अनुकरण पर जोर दिया गया था।

आजादी के आंदोलन में इसे आमूल-चूल बदलने की बात बराबर होती थी। महात्मा गांधी ने 'नई तालीम' के कई प्रयोग किए थे। रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांति निकेतन की स्थापना की थी। गिजुभाई ने नई तरह की शिक्षा और बाल मनोविज्ञान पर अद्‌भुत पुस्तकें लिखी थीं। उनकी लघु उपन्यासनुमा पुस्तक 'दिवास्वप्न' ने तो कई लोगों को नए ढंग की शिक्षा का सपना देखने के लिए प्रेरित किया है। लेकिन ये पुस्तकें गुजराती में थीं, अंग्रेजी में नहीं, इसलिए आज भी भारत के शिक्षा-ढाँचे में उनको महत्व और मान्यता नहीं मिली है। आजाद भारत में शिक्षा-व्यवस्था को बदलने का काम नहीं हो पाया है।

मध्यप्रदेश के होशंगाबाद में विज्ञान जैसे कुछ प्रयोग हुए, पर शासकों की नाराजी उनको भी ले डूबी। कुल मिलाकर, यह आजाद भारत की विडंबना है कि अभी तक गांधी, गिजुभाई, टैगोर, फुले, राधाकृष्णन, जाकिर हुसैन सबके ऊपर मैकाले ही हावी और भारी रहा है। गिजुभाई का दिवास्वप्न आज भी साकार नहीं हुआ है। दिवास्वप्न ही रह गया है। वैश्वीकरण और बाजारवाद का मैकालेवाद के साथ मेल और ज्यादा भयानक होता जा रहा है। अब शिक्षा उबाऊ, नकलची, अप्रासंगिक, आभिजात्य और बोझ के साथ बाजारू भी बनती जा रही है।

मैकाले एक तरफ है, गांधी-गिजुभाई दूसरी तरफ। देश किधर जाएगा, इसका फैसला आने वाले समय में होगा। इस चयन में सल-सबील जैसे स्कूल हमारे मददगार साबित होंगे। खतरा यही है कि पूरी व्यवस्था में बदलाव के बजाय वे एक टापू और अपवाद बनकर न रह जाएँ।

(जनसत्ता, 17 दिसंबर 2010 से साभार)

■

वार्ता के लिए लिखें

आज दुनिया में काफी उथल-पुथलमची हैं। कई तरह के संकट पैदा हो रहे हैं। इनके खिलाफ असंतोष, बेचैनी, आंदोलन और विद्रोह भी काफी व्यापक है। किंतु इनको समझने और आगे बढ़ाने के लिए विचार-विश्लेषण भी जरूरी है। वैचारिक प्रक्रिया बगैर विरोध और विद्रोह के दिशाहीन होकर भटक जाएगी।इसी संदर्भ में सामयिक वार्ता का महत्व है, विचार, विश्लेषण, संवाद और विमर्श के एक मंच के रूप में। हम यह चाहते हैं कि इसमें व्यापक भागीदारी हो और यह थोड़े से बुद्धिजीवियों का बुद्धि विलास बनकर न रह जाए।इस देश में हिंदी का क्षेत्र बहुत बड़ा है।वार्ता देश के हर कोने में पहुँचे, यह हमारी इच्छा है। जनांदोलनों के कार्यकर्ताओं के लिए वार्ता वैचारिक शिक्षण और जानकारियों का स्रोत बने, यह भी इच्छा है। हम चाहते हैं कि वार्ता की भाषा पांडित्यपूर्ण होने के बजाए सरल, सहज और ऐसी हो कि साधारण पढ़े-लिखे लोग आसानी से समझ सकें। गहन विषयों और विमर्श को भी सरलभाषा में पेश किया जा सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है।

हम सामयिक वार्ता के विषयों का दायरा बढ़ाने और उसमें ज्यादा विविधता लाना चाहते हैं। राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र और जनांदोलनों के साथ हम इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य, फिल्म, रंगमंच, विज्ञान, पर्यावरण, कानून, मानव अधिकार, खेलआदि जीवन के विविध पहलुओं को भी छूना चाहते हैं।लेखों के अलावा रपट, बातचीत, समीक्षा, डायरी, कविता आदि को भी हम वार्ता का हिस्सा बनाना चाहते हैं। इसकी कुछ झलक वार्ता के पिछले अंकों में मिली होगी।मोटे तौर पर गाँधी, लोहिया, जयप्रकाश, आंबेडकर की धारा से जुड़े होने के बावजूद हम वैचारिक रूप से ज्यादा खुलेपन की वार्ता में गुंजाइश रखना चाहते हैं और विविध वैचारिक धाराओं के बीच संवाद और स्वस्थ बहस को भी बढ़ाना चाहते हैं। दुनिया में जहाँ भी इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के नए प्रयोग हो रहे हैं, उनकी जानकारी देना और विचार-मनन के लिए पेश करना भी हम अपना काम मानते हैं। आज मीडिया तेजी से कॉर्पोरेट मीडिया बनता जा रहा है। मुनाफे की पूजा के चक्कर में मीडिया में विचार की जगह बची ही नहीं है और एक तरह के अराजनीतिकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। वैकल्पिक मीडिया की जरूरत आज और ज्यादा बढ़गई है। इस संदर्भ में भी सामयिक वार्ता का महत्व है।

आशा है कि आपका सहयोग इस प्रयास में मिलता रहेगा। आप हमें अपनी रचना डाक या ई-मेलसे भेज सकते हैं।

शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्त जरूरी

अनुराग मोदी

केजी (किंडर गारटेन) से पीजी (पोस्ट ग्रेजुएट) तक यानी बाल–बाड़ी (बच्चों का स्कूल) से स्नातकोत्तर शिक्षा तक समान और मुफ्त शिक्षा व्यवस्था अमल में लाने की मांग अपनी जगह पर है, लेकिन बड़ा सवाल तो यह है कि हमारी शिक्षा–व्यवस्था की मूल समस्या क्या है? गैरबराबरी पर टिकी हुई इस व्यवस्था से हमें कैसे निजात मिले?इस मुद्दे पर एक लंबी राष्ट्रीय बहस की दरकार है। इस बहस को आगे बढ़ाने के पहले मैं मौजूदा शिक्षा–व्यवस्था पर सवाल उठाती एक मार्मिक घटना के बारे में लिखना चाहता हूँ।

अखबारों में और टेलीविज़न पर पिछले मई महीने के अंतिम दिनों में उत्तर प्रदेश के बदायूं जिले में 14 और 15 वर्ष की दो बहनों को बलात्कार के बाद पेड़ से लटका कर फांसी दे कर मार डालने की खबर की बड़ी चर्चा थी, लेकिन इसके दो सप्ताह पहले तमिलनाडु के कुडलूर जिले में दो सगी बहनों के आत्महत्या करने की खबर चर्चा का विषय न बन सकी। मैं इसी घटना के बारे में बताना चाहता हूँ। शुक्रवार 9 मई को तमिलनाडु बोर्ड की 12वीं कक्षा (उच्च माध्यमिक) की परीक्षा के परिणाम आए। दो सगी बहनें 17 वर्षीया सरन्या और 18 वर्षीया कृतिका अपने परिणाम से बड़ी खुश थीं। उन्होंने 78 प्रतिशत अंक पा कर सिर्फ एक अंक के अंतर से अपने स्कूल में प्रथम और द्वितीय स्थान प्राप्त किया था। दोनों आगे की पढाई के बारे में सोच रही थीं, सोच क्या रही थीं, सपने बुन रही थीं। दूसरे दिन शनिवार 10 मई को दोनों बहनों ने अपने माता–पिता को आपस में बात करते सुना कि बड़ी बेटी की शादी कर देंगे और सिर्फ छोटी बेटी को आगे की डिग्री हेतु पढ़ाई जारी रखेंगे। माता–पिता के इस निर्णय से दोनों के सपने ध्वस्त हो गए ; उन्हें यह बर्दाश्त न हो सका कि उनमें से एक आगे की पढाई नहीं कर सकेगी। रविवार 11 मई को जब माता–पिता घर से बाहर गए हुए थे तब दोनों बहनों ने अपने दुपट्टों से फांसी लगा कर आत्महत्या कर ली। दोनों बहनों के पिता मुरुगन बढ़ई का काम करते हैं, उन्होंने किसी तरह दोनों बहनों को 12वीं तक पढ़ाया, इसके आगे पढ़ाना उनके बूते के एकदम बाहर था। हमारी शिक्षा व्यवस्था की अनेक विडंबनाओं में यह एक बड़ी विडंबना है कि उसमें गरीब परिवारों की संतानों के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करने की गुंजाइश ही नहीं है।

अब जरा कृतिका और सरन्या की कहानी को कुछ आँकड़ों के आलोक में देखते हैं। 1951 में शिक्षा का बजट सकल घरेलू उत्पाद का 6.4 प्रतिशत था जो आजादी के 63 साल बाद (2013–2014 में जारी 2010 के आँकड़ों के मुताबिक) घटकर 4.17 हो गया (कर दिया गया) है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (नेशनल सैंपल सर्वे) के आँकड़े बताते हैं कि देश में 32 प्रतिशत लोग निरक्षर हैं और 22 प्रतिशत नाम मात्र के लिए साक्षर हैं। यानी देश की प्रायः आधी आबादी अनपढ़ है। 82 प्रतिशत युवा 12वीं कक्षा तक पहुँचते–पहुँचते पढ़ाई छोड़ देते हैं। कितने डिग्री पाने के मुकाम तक पहुँच पाते हैं? पहुँच पानेवालों का आँकड़ा दहाई (दो अंकों में) तक भी नहीं पहुँचेगा। यह व्यवस्था कालांतर में बेहतर हो जाएगी, यह सोचना एक छलावा ही होगा क्योंकि आज भी 54 प्रतिशत विद्यार्थी परिवार की कमाई में मदद करने के चलते स्कूल–कालेज में हाजिरी नहीं दे पाते। यूनीसेफ (यूनाइटेड नेशंस चिल्ड्रेन फण्ड) के अनुसार 2016 तक हमारे देश में 50 करोड़ लोग अनपढ़ या पाँचवीं कक्षा से कम स्तर की पढ़ाईवाले और अन्य 30 करोड़ हाईस्कूल पास भी नहीं होंगे।

श्रम मंत्रालय के 2012 के आंकड़ों के अनुसार 2. 99 करोड़ लोग रोजगार में लगे हुए थे तो 3.99 करोड़ लोग बेरोजगार थे। बेरोजगार लोगों की संख्या का आँकड़ा उन लोगों का है, जिनके नाम रोजगार दफ्तरों में किसी न किसी रूप में दर्ज थे। यह कहने की जरूरत नहीं कि रोजगार दफ्तरों में नाम दर्ज करवाने वाले लोगों के आधार पर बेरोजगार लोगों का आँकड़ा तय करना उनके साथ मजाक करने जैसा होगा। नरेंद्र मोदी जिस रोजगार या चीन के मुकाबले मेक इन इंडिया की बात कर रहे हैं, वह असल में हर साल आठवीं कक्षा के बाद पढ़ाई छोड़ने वाले 2.1 करोड़ युवाओं को, आगे की डिग्री तक की शिक्षा प्रदान करने के बजाए, रोजगार मूलक शिक्षा के नाम पर फैक्ट्रियों

में खपाने की योजना है।

अगर हम राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 2010 के आँकड़ों को विस्तार से देखें तो यह पाएंगे कि तमिलनाडु की दो सगी बहनों की कहानी सिर्फ उनकी नहीं है। हमारे देश में 15 साल से अधिक उम्रवाले सिर्फ 5.7 प्र०श० युवा ही स्नातक हैं और 1.6 प्रतिशत स्नाकोत्तर। इसका मतलब यह है कि कम से कम 92–93 प्र०श० युवा विकास की दौड़ से बाहर हैं और अपने आप को हीन और कमतर मानने को मजबूर। इन आँकड़ों को ग्रामीण, शहरी, क्षेत्रीय, जातीय, धर्मीय और लिंग के आधार पर देखेंगे तो हमें इनमें भी भारी असमानता दिखलाई पड़ेगी। असम और त्रिपुरा में 15 वर्ष से अधिक उम्रवाले युवाओं में स्नातकों और स्नातकोत्तरों की संख्या का प्रतिशत 3.5 से 4 तक था, जो राष्ट्रीय औसत का आधा बैठता है। नरेंद्र मोदी जी के गुजरात में 9 प्रतिशत तो मणिपुर और महाराष्ट्र में सबसे अधिक यह 10 प्रतिशत से ऊपर था। केरल जिसके बारे में 100 प्रतिशत साक्षरता का दावा किया जाता है, वहां 9.5 प्रतिशत था। शहरों और ग्रामीण इलाकों में तो इस मामले में तो शहरों में 17.3 प्र०श० तो गाँवों में 3.2 प्रतिशत। ग्रामीण मुसलमान, महिला, आदिवासी युवाओं में तो यह 2 प्र०श० से भी कम था।

यहाँ एक और बात गौर करने की है। पिछले दस सालों में सरकारी बैंकों द्वारा कुल 25,70,254 खाते खोल 57,700 करोड़ रुपए के ऋण बाँटे गए। इन ऋणों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए दिए गए ऋणों का अच्छा खासा प्रतिशत है। इसके बावजूद स्नातक और स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त युवाओं की संख्या क्रमशः 5.7 प्र०श० और 1.6 थी।

सबसे बड़ी असमानता तो भाषा की है। अगर आपने अंगरेजी माध्यम से शिक्षा नहीं पाई है तो आपकी पढ़ाई बेकार है। हर आदमी इस बात को समझता है। इस समझ के चलते ही अंगरेजी माध्यम के स्कूल कुकुरमुत्तों की तरह उग रहे हैं। मेरे छोटे से तहसीली कस्बे सिवनी–मालवा में पिछले बीस सालों में अंगरेजी माध्यमवाले 20 नए स्कूल खुले हैं। मेरी पत्नी शमीम पिछले कुछ सालों से मुंबई के टाटा सामाजिक संस्थान में सहायक प्राध्यापक के पद पर काम कर रही है। घरेलू कामों में हमारी मदद करने वाली युवा दलित महिला वर्षा अपनी कमाई का एक चौथाई हिस्सा बड़े बच्चे को अंगरेजी माध्यम के निजी स्कूल में पढ़ाने पर खर्च करती है। छोटा बच्चा अगर अगले साल स्कूल जाने लगेगा तो वर्षा की आधी कमाई बच्चों की शिक्षा पर खर्च हो जाएगी। उसका पति कोई काम नहीं करता, ऐसे में वास्तव में अपना और बच्चों का पेट काट कर ही वह बच्चे को पढ़ा रही है। मैंने वर्षा से पूछा कि वह अपने बच्चे को मराठी माध्यम के सरकारी स्कूल में क्यों नहीं पढ़ाती तो उसने कहा– मराठी माध्यम से पढ़ाई करनेवाले लड़के–लड़कियाँ बेरोजगार घूम रहे हैं, मराठी में पढ़ाई कोई काम नहीं आती।

यह अजीब है कि देश के आजाद होने के बाद अंगरेजी माध्यमवाले स्कूलों का चलन इतना बढ़ा है कि आज मातृभाषा के माध्यम से पढ़ानेवाले स्कूलों में वे बच्चे ही पढ़ते हैं जिनके माँ–बाप पेट काट कर भी उन्हें अंगरेजी माध्यम वाले स्कूलों में पढ़ाने में असमर्थ हैं। देश में 1965 से अंगरेजी को सरकारी कामकाज की भाषा न रहने देने की सरकारी घोषणा पर किसी को विश्वास न था क्योंकि देश का विशिष्ट वर्ग अंगरेजी जानने की अपनी विशिष्टता का लाभ उठा कर देश के वंचित समूहों को अनंत काल तक वंचित रहने देना चाहता है। 1970 के दशक से छोटे शहरों में अंगरेजी माध्यम के स्कूल खुलने शुरू हो गए थे। मेरी पत्नी और उसके जैसे महानगरों में पढ़े–बढ़े मध्यवर्गीय लोग तो इससे काफी पहले से अंगरेजी माध्यम वाले निजी स्कूलों में जाने लगे थे। जिस छोटे शहर हरदा में मैंने पढ़ाई की, वहाँ अंगरेजी माध्यम का पहला स्कूल 1970 के दशक के अंतिम वर्षों तक खुल गया था। अब वैश्वीकरण के चलते झूठे दावे कर अंगरेजी को 'विश्व भाषा' बतलाने का नगाड़ा बजाया जा रहा है तो मातृभाषा के माध्यम से चलने वाले स्कूल ऐतिहासिक अवशेष बन गए हैं। महानगरों में मराठी, बांग्ला, गुजराती, तमिल, कन्नड़, तेलुगू और हिंदी माध्यम के निजी स्कूल अब खोजने पर ही मिलेंगे। अंगरेजी माध्यम के साथ शिक्षा के व्यावसायीकरण का भी सीधा रिश्ता है। आज शहरों में 54 प्रतिशत शिक्षण संस्थान निजी हैं जिनमें से 32 प्रतिशत को सरकारी सहायता भी मिलती है। ग्रामीण इलाकों में भी 25 प्रतिशत स्कूल निजी हैं।

अंगरेजी भाषा में शिक्षा के सवाल पर 1909 में 'हिंद स्वराज' में गाँधी जी ने चिंता जताते हुए लिखा था 'विदेशी शासकों की सबसे बड़ी बुराइयों में से एक है – देश के युवाओं पर विदेशी भाषा थोपना। (इसने) देश को शक्तिहीन बना दिया है, उसकी ऊर्जा सोख ली है' और शिक्षा को गैरजरूरी रूप से खर्चीला बना दिया है। 1921 में तो गाँधी जी ने अंगरेजों द्वारा वेल्स में वेल्शभाषा को पढ़ाने की चर्चा करते हुए कहा था कि

जिस व्यवस्था (वेल्स में वेल्श के स्थान पर अंगरेजी को प्रश्रय देने की) को अंगरेज खुद नकार रहे हैं, वह हमारे यहाँ प्रचलित हैं; 'क्या यह दुख और शोक की बात नहीं कि बैरिस्टर बनने पर मुझे अपनी मातृभाषा छोड़नी पड़े।'

गांधीजी के अंगरेजी संबंधी सोच को नकार कर हमने उनका नहीं, देश की 90 प्र०श० जनता का अपमान किया है। हमने जनता के साझे, सामुदायिक और परंपरागत ज्ञान, कला, कौशल और समझ से सामंजस्य स्थापित कर अपनी खुद की देशी शिक्षा और विकास व्यवस्था कायम कर उसे आधुनिक रूप से निखारने के बजाए जनता के साझे, सामुदायिक और परंपरागत ज्ञान, कला, कौशल को जानने वालों को अनपढ़, अनाड़ी और दोयम दर्जे का करार देकर औपनिवेशिक काल की व्यवस्था को बनाए रखा और इस प्रकार जनता की समझ से उलट एक आयातित किताबी ज्ञान को ही शिक्षा में सफलता, विकास और सम्मान का पैमाना बना दिया। इस तरह दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र एक छलावा बन गया। हमारी शिक्षा–व्यवस्था पर 'वैश्वीकरण' की छाप लार्ड मैकालेवाली शिक्षा पद्धति से ही शुरू हो गई थी। इस शिक्षा पद्धति का मकसद एक ऐसा वर्ग तैयार करना था जो थोड़े से मुआवजे (तनख्वाह) के बदले अपने समाज और आम जनता के हितों को त्याग कर सत्तावानों के हित में काम करे।शिक्षा व्यवस्था की खोट के चलते अंगरेजों के खिलाफ लड़ने वाले ईमानदार और प्रतिबद्ध नेताओं को पश्चिमी मॉडल और अंगरेजों की शिक्षा पद्धति को अपनाना आसान लगा। पश्चिमी मॉडल का विकास आज अपने चरम पर है, जिसे हम वैश्वीकरण कह रहे हैं, उसने सरकारी स्कूलों के बचे–खुचे स्वरूप को भी खत्म कर दिया है क्योंकि बाजार को जिस तेजी से बदलाव की जरूरत है, वह सरकारी तंत्रवाली शिक्षा–व्यवस्था के भरोसे संभव नहीं है।

शिक्षा–व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन के लिए हमें गाँधी जी की ताकीद को समझना होगा, हमें शिक्षा की कीमत एक वस्तु की तरह आंकना बंद करना होगा। हम शिक्षा की कीमत उसी तरह आंकते हैं, जिस तरह शेयरों और जमीनों की। गांधीजी का मानना था कि शिक्षा को एक क्रांतिकारी रूप देने की जरूरत है जिसमें गाँव की गरीबी का जवाब मिल सके। शिक्षा के बारे में क्रांतिकारी विचार रखनेवाले गिजुभाई बोधेका ने एक पिता के सवाल के जवाब में कहा था 'दुनिया भर की शालाएं (स्कूल) बंद कर डालें तो भी बालक का कोई नुकसान नहीं होगा बल्कि आजकल की शालाएं बंद हो जाएं तो बहुत लाभ ही होगा।'

आज से प्रायः 8–9 साल पहले की बात है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री अनिल सद्गोपाल के साथ मध्यप्रदेश के जन संगठनों और जन संघर्षों से जुड़े प्रदेश भर के आदिवासी कार्यकर्ताओं की एक बैठक हरदा में बुलाई गई थी। इसमें जब शिक्षा–व्यवस्था में सुधार की बात आई तो सबने एक स्वर में कहा, शिक्षित बच्चों का अपने समाज और उसकी समस्याओं से कोई लेना देना नहीं होता; वे समाज और गाँव से कट जाते हैं। इसलिए ऐसी शिक्षा बंद कर देनी चाहिए। हाल में हमारे बुजुर्ग कार्यकर्ता बैतूल जिले के जोड़यामउ गाँव के मंगल सिंह भाई ने बातों–बातों में मुझ से कहा, 'स्कूल हमारी भाषा के साथ हमारा पहनावा भी खतम कर रहे हैं। इसलिए स्कूल में यूनिफार्म नहीं होना चाहिए; स्कूल जाने के साथ ही हमारा बच्चा 'चोंगला' (फुलपैंट) वाला शहरी पहनावा अपना लेता है। आज से 30–35 साल पहले जब मैं मिडिल स्कूल की पढ़ाई करने शाहपुर गया था तब आदिवासी पहनावे के कारण मुझे रोज क्लास से बाहर कर दिया जाता था। मैंने दो साल लड़ाई लड़ी और आखिर में पढ़ाई छोड़ना ही बेहतर समझा।'

क्या हम आदिवासी कार्यकर्ताओं की ऐसी गूढ़ बातों को समझ पाएंगे? क्या एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था कायम कर पाएंगे जिसमें हर भाषा, हर पहनावे, हर कला, हर कौशल और परंपरागत ज्ञान और श्रम को उचित सम्मान और उचित आर्थिक मुआवजा मिल सके? इसके लिए हमें ज्ञान और विकास की अपनी उस परिभाषा को बदलना होगा, जो केजी से पीजी तक की शिक्षा को सही बतलाती है, हमें बाजार के लिए तैयार करती है। इसके बाद जब हम वैज्ञानिक सोचवाली गांधीजी की नई तालीम और दुनिया भर के ऐसे प्रयोगों को समझ कर अपने अनुसार अपनी एक नई शिक्षा–व्यवस्था कायम करेंगे तब ही कुछ बदलने की शुरुआत होगी। हो सकता है, जैसा गांधीजी कहते थे, बदलाव से कुछ समय शिक्षा के क्षेत्र में अराजकता की स्थिति पैदा हो, हमारी तथाकथित उच्च शिक्षा अफरातफरी की स्थिति में आ जाए, लेकिन यह बदलाव जरूरी है क्योंकि तभी समता के मूल्यों पर अधारित नई शिक्षा–व्यवस्था विकसित हो पाएगी। और यह सब तभी होगा जब एक बार फिर हम सब एक हो कर एक नई आजादी की देशव्यापी लड़ाई छेड़ें। ■

शिक्षा पर विशेष

समान शिक्षा के लिए संघर्ष

लाल्टू

पिछले दो दशकों में भारत में शिक्षा व्यवस्था में निजीकरण में तेजी आई है। नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत सरकारी शिक्षा तंत्र को सीमित किया जा रहा है और निजी संस्थानों को बड़े पैमाने पर छूट दी गई है। यह कोई विश्व–व्यापी परिघटना नहीं है, बल्कि भारत जैसे देशों में ही यह प्रवृत्ति बढ़ रही है। मसलन संयुक्त राज्य अमेरिका (यू एस ए) को पूँजीवाद का गढ़ माना जाता है। मुक्त बाजार के लिए शोर मचाने वाले मुल्कों में और विश्व–स्तर पर पूँजीवादी अर्थ–व्यवस्था की धाक बनाए रखने में यू एस ए की भूमिका प्रमुख है। पर स्कूली तालीम के क्षेत्र में अमेरिका में निजीकरण सीमित स्तर तक लागू है और पिछले कुछ सालों में अगर इसमें बढ़त हुई भी है, तो वह नगण्य है। अधिकतर अमेरिकी स्कूल (नेबरहुड) यानी मुहल्ले के स्कूल कहलाते हैं, जिनका खर्च कहीं संघीय तो कहीं स्थानीय सरकार चलाती है। अधिकतर बच्चों को मुफ्त तालीम मिलती है। सालाना दो लाख डॉलर की आमदनी वाले परिवारों में से भी केवल छब्बीस फीसद बच्चे निजी स्कूलों में पढ़ते हैं, जबकि सालाना आय का मध्य अंक (मीडियन) छियालीस हजार डॉलर है। यानी अति–संपन्न इस तबके के भी चौहत्तर फीसद बच्चे नेबरहुड स्कूलों में पढ़ते हैं। पचास हजार डॉलर की सालाना आमदनी के परिवारों से केवल छः फीसद बच्चे ही निजी स्कूलों में पढ़ते हैं। उच्च शिक्षा में भी निजी संस्थानों के अलावा सरकारी संस्थानों की भरमार है। कैलिफोर्निया राज्य की सरकारी यूनिवर्सिटी का बर्कले कैंपस दुनिया का अव्वल विश्वविद्यालय माना जाता है। निजी संस्थानों में प्रवेश पाने वाले छात्रों को भी पर्याप्त वजीफा मिलता है, हालाँकि यह सही है कि इसमें हाल के वर्षों में कटौती हुई है। आर्थिक सहयोग और विकास संस्था (ओ ई सी डी) के अनुसार यू एस ए में सरकार सकल घरेलू उत्पाद का 5.1 फीसद से अधिक शिक्षा में लगाती है। 1990 के तुरंत बाद यह आँकड़ा साढ़े पाँच फीसद से भी ऊपर था। ध्यान रहे कि भारत की जनसंख्या अमेरिका की तीन गुनी है। अमेरिका और भारत के सकल घरेलू उत्पाद में तकरीबन आठ का अनुपात है। कीमतों के साथ संगत रखते हुए हिसाब लगाया जाए तो यह अनुपात तीन तक पहुँचता है। पिछले पचास वर्षों में भारतीय संविधान के निर्देशक सिद्धांतों के मुताबिक बनी शिक्षा नीति तय करने वाले एकाधिक आयोगों ने सकल घरेलू उत्पाद के छः फीसद तक शिक्षा में लगाने की हिदायत दी है, पर यह आज तक संभव नहीं हो पाया है। 1990 में यह आँकड़ा चार फीसद तक पहुँच गया था, फिर संरचनात्मक आर्थिक सुधारों की वजह से लगातार गिरता गया। आखिरकार सदी के अंत में साढ़े तीन फीसद पर टिक गया। 2000–2002 के दौरान शिक्षक आंदोलन के दबाव में बेहतरी के आसार नज़र आ रहे थे, पर वह अस्थायी था और अब साढ़े तीन फीसद पर टिका हुआ है। मुख्यतः आर्थिक संसाधनों में कमी की वजह से शिक्षा का स्तर कभी भी सही नहीं रहा है। उच्च शिक्षा में भी सरकार का हिस्सा लगातार कम होता जा रहा है। पिछली सदी के आखिरी दो दशकों में उच्च शिक्षा में सरकार का हिस्सा तकरीबन अस्सी फीसद से गिर कर सड़सठ फीसद तक आ गया। इस सदी की शुरूआत में कुछ नए सरकारी संस्थान खुले – जिनमें करीब दस नई केंद्रीय यूनिवर्सिटी, दस नए आई आई टी, आई आई एस ई आर और एन आई एस ई आर प्रमुख हैं, पर साथ ही इससे कहीं ज्यादा बढ़त निजी क्षेत्र में हुई। 1960 तक इंजीनियरिंग कालेजों में पंद्रह फीसद भर्ती निजी संस्थानों में होती थी, अब यह आँकड़ा तकरीबन पचासी फीसद तक आ पहुँचा है। मेडिकल कालेजों का हाल इतना बुरा नहीं, पर यहाँ भी निजी संस्थानों का हिस्सा 1960 में 6.8 फीसद से बढ़ कर आज बयालीस फीसद तक आ गया है। आम कॉलेजों की बात ही क्या की जाए, इक्के–दुक्के ही सरकारी कॉलेज रह गए हैं। सबसे ज्यादा

खतरनाक स्थिति यह है कि सेवा क्षेत्र में व्यापार के सामान्य (गैट्स– General Agreement on Trade in Services) समझौते में भागीदारी के तहत भारत ने विदेशी विश्वविद्यालयों के लिए दरवाजे खोल दिए हैं। बराबरी की स्थिति में यह कोई चिंता की बात न होती, पर आर्थिक मजबूरियों की वजह से इन विदेशी संस्थानों के लिए भारत के शिक्षार्थियों के हित में निर्देश मनवाने की स्थिति में भारत नहीं है। ये संस्थान अधिक तनख़ाहों पर कुछेक अध्यापकों को रख कर बेहतर तालीम की मरीचिका रचेंगे और इसके लिए छात्रों से भारी फीस लेंगे। इसका सीधा नतीज़ा यह होगा कि सचमुच की बेहतर तालीम के बिना ही महज विदेशी ठप्पा लगाकर सुविधाओं का दावा करने वाली बड़ी जमात बनती चलेगी और सामाजिक गैरबराबरी बढ़ती रहेगी।

यूरोप में हंगरी, फिनलैंड और जर्मनी जैसे मुल्कों में तालीम पर सरकारी खर्च बजट का काफी बड़ा हिस्सा है। फिनलैंड ने पिछले पचास वर्षों में शिक्षा में बड़ा निवेश किया है और आज फिनलैंड की शिक्षा व्यवस्था को दुनिया में सबसे बेहतरीन माना जाता है। भारत में आज तक किसी भी सरकार ने खुद को पूरी तरह पूँजीवादी घोषित नहीं किया है। यह कैसी विडंबना है कि हमारे यहाँ शिक्षा का निजीकरण बढ़ता जा रहा है और सरकारी स्कूली व्यवस्था चरमरा रही है। शिक्षा में हर स्तर पर, खास तौर पर उच्च शिक्षा में विदेशी पूँजी का निवेश भी तेजी से बढ़ा है। 1990 के बाद से नई आर्थिक नीतियों से समाज में गैरबराबरी बढ़ी है और शिक्षा की लगातार तेजी से बढ़ती माँग के बावजूद आम लोगों के लिए स्तरीय शिक्षा मुहैया कराने से सरकार पीछे हटती जा रही है। कई राज्यों में दर्जनों सरकारी स्कूल बंद किए जा रहे हैं। अभी हाल में ही राजस्थान सरकार ने व्यापक विरोध के बावजूद भिन्न स्कूलों के एकीकरण के नाम पर दर्जनों शालाओं को बंद कर दिया है। देश के हर राज्य में हजारों पद खाली पड़े होने के बावजूद अध्यापकों की भरती नहीं की जा रही है। ऐसा माहौल बनाया जा रहा है कि सरकारी स्कूलों में तालीम को लोग घटिया स्तर का मानते हैं। निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने के लिए शिक्षा अधिकार कानून (2009) के नाम पर सरकारी स्कूलों के बच्चों को निजी स्कूलों में भेज कर सरकार द्वारा उनका खर्च निजी स्कूल के प्रबंधकों को दिया जाता है। तालीम में गैरबराबरी का जो माहौल आज भारत में दिखता है, ऐसा पहले कभी नहीं रहा। देश की अधिकांश जनता को सरमाएदारी व्यवस्था का गुलाम बनाने के लिए सरकार ने मुहिम छेड़ दी है। मौजूदा सरकार से इस स्थिति को बदले जाने की कोई उम्मीद नहीं है, बल्कि नई सरकार ने आते ही हर क्षेत्र में निजी संस्थानों के लिए सुविधाएँ बढ़ाने में चुस्ती दिखलाई है।

तालीम पर ज़मीनी लड़ाई लड़ रहे शिक्षाविदों और संगठनों ने हमेशा ही इस नाइंसाफी का विरोध किया है और अब 'अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच' के बैनर तले दर्जनों संगठन 'अखिल भारत शिक्षा संघर्ष यात्रा' आयोजित करने में जुट गए हैं। यह यात्रा विभिन्न राज्यों में इरोम शर्मिला के उपवास की शुरूआत के साथ जुड़े दिन 2 नवंबर 2014 को शुरू हो गई है और इसका समापन 4 दिसंबर को भोपाल में गैस–कांड की वार्षिकी के दिन होगा। इस यात्रा के ज़रिए ये सभी संगठन मिलकर समान शिक्षा के मुद्दों पर जन–चेतना बढ़ाने और जनांदोलन खड़ा करने की कोशिश करेंगे। मौजूदा बहुपरती शिक्षा प्रणाली को संविधान में घोषित समानता के अधिकार के खिलाफ और भेदभाव बढ़ाने वाली कहते हुए संघर्ष का आगाज़ किया गया है। मंच की प्रमुख माँग देशभर में 'केजी से पीजी' तक सरकारी खर्च पर और पूरी तौर पर मुफ़्त और मातृभाषाओं के शैक्षिक माध्यम पर टिकी हुई ऐसी 'समान शिक्षा व्यवस्था' स्थापित करने के लिए है, जो संविधान में निर्देशित समानता और सामाजिक न्याय की बुनियाद पर खड़ी हो और जिसका लोकतांत्रिक, विकेंद्रित व सहभागिता के सिद्धांतों पर संचालन हो। मौजूदा स्थिति यह है कि संविधान के तहत गठित अकादमिक निकायों (जैसे एनसीईआरटी, यूजीसी) को लगातार दरकिनाकर करते हुए सरकारी नौकरशाही सत्तासीन राजनैतिक दलों और उनके आकाओं के हितों को सामने रखते हुए शिक्षा व्यवस्था पर हावी हो रही है। इसके विपरीत जिस लोकतांत्रिक व्यवस्था की माँग की जा रही है, उसके तहत हरेक स्कूल का एक तयशुदा 'पड़ोस' होगा जिसके दायरे में रहने वाले हरेक को

– चाहे वह पूंजीपति, नेता, अफ़सर या मज़दूर हो – अपने बच्चों को कानूनन उसी स्कूल में पढ़ाना लाज़मी होगा। प्राथमिक से लेकर जहाँ तक संभव हो सके, उच्च–शिक्षा तक भारतीय यानी मातृभाषाओं में हो, यह पुरानी माँग है। विश्व भर के शिक्षाविदों द्वारा किए शोध से पता चलता है कि कम से कम प्रारंभिक पढ़ाई मातृभाषा में हो तो कुदरती तौर पर मिली संज्ञान की प्रक्रियाएँ सक्रिय रहती हैं और इसके विपरीत शुरूआत से ही परायी भाषा में शिक्षा देने की कोशिश बच्चों को दिमागी तौर पर पंगु बनाती है। मंच ने यह भी माँग रखी है कि बारहवीं कक्षा के बाद मुफ़्त उच्च शिक्षा में भी सभी को समान अवसर मुहैया कराए जाएँ। यहाँ यह रोचक जानकारी सामने रखी जानी चाहिए कि जर्मनी ने हाल में ही उच्च शिक्षा में ट्यूशन फीस हटा दी है यानी कॉलेज यूनिवर्सिटी में पढ़ने के लिए ट्यूशन फीस नहीं ली जाएगी। इसके पीछे सिद्धांत यह है कि समाज में अधिकतर लोग उच्च शिक्षा ले लें तो देश की आर्थिक तरक्की होगी।

अक्सर मध्य–वर्ग के लोग मानते हैं कि सरकारी स्कूली शिक्षा में स्तर गिरने से ही निजीकरण में बढ़त हुई है। अगर ऐसा है तो उसका समाधान यह है कि सरकारी स्कूली शिक्षा–तंत्र को मजबूत बनाया जाए। हो यह रहा है कि सरकारी शिक्षा–तंत्र को लगातार विपन्नता की ओर धकेला जा रहा है और निजी हितों को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसके पीछे ऐसी संवेदनाहीन भ्रष्ट मानसिकता है जो अधिकांश लोगों को मानव का दर्जा देने से विमुख है। निजी उच्च–शिक्षा–संस्थानों में आरक्षण जैसे कल्याणकारी कदमों को भी नकारा जाता है – इस नज़रिए से देखने पर यह ऐसा षड़यंत्र दिखता है जो बहुसंख्यक लोगों के हितों के खिलाफ है। निजी संस्थाओं का पहला उद्देश्य मुनाफाखोरी होता है, और कम से कम भारत में शोध–कार्य में उनका अवदान नगण्य है। अनगिनत छात्र निजी कालेज–विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे हैं, जहाँ कोई शोध की संस्कृति नहीं है। सारी तालीम किताबी है और नवाचार के लिए जगह सीमित है। छात्र महज इम्तहान पास कर नौकरियाँ लेने को तत्पर हैं और सचमुच ज्ञान की सर्वांगीण धारणा से उनका लेना–देना कम ही दिखता है। इससे देश और समाज का जो नुकसान हो रहा है, उसकी भरपाई लंबे समय तक न हो पाएगी। इसलिए शिक्षा संघर्ष यात्रा शिक्षा में निजीकरण और बाज़ारीकरण का विरोध भी करेगी, जिसमें सार्वजनिक–निजी साझेदारी (पीपीपी) और विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफ़ डी आई) के हर परोक्ष व प्रत्यक्ष रूप का विरोध शामिल है। ऐसे कई पीपीपी और विदेशी गठजोड़ वाले संस्थान नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत अचानक खड़े हो गए हैं, जहाँ पढ़ाई महँगी है, पर स्तर में गिरावट ही दिखती है। इनमें शिक्षा का मकसद महज बाज़ार में काम आने वाला मानव–संसाधन तैयार करना मात्र है। जाहिर है कि इनका विरोध लाजिम है।

सांप्रदायिकता और जातिवाद दक्षिण एशिया के शर्मनाक पहलू हैं, जिससे तालीम अछूती नहीं है। मौजूदा सत्तासीन दल और संघ परिवार की हमेशा से कोशिश यह रही है कि इतिहास की किताबों में भारत के अतीत को हिंदुत्व के रंग में ढाल कर पेश किया जाए। इसके साथ ही कृत्रिम किस्म की संस्कृत शब्दावली को थोपते हुए अलग–अलग तरह से ब्राह्मणवाद और मनुवाद को प्रतिष्ठित करने की कोशिशें चलती रही हैं। पंद्रह साल पहले ऐसी कोशिशों में स्कूली पाठ्य–पुस्तकों में विषय–वस्तु के साथ बुरी तरह खिलवाड़ किया गया था। आज दीनानाथ बतरा और उसके साथी यह तय कर रहे हैं कि कैसे अंध–विश्वासों और भ्रामक धारणाओं को पाठ्य–सूची में डाला जाए। लोकतांत्रिक धर्म–निरपेक्ष संविधान पर गर्व करने वाले भारतीयों को चाहिए कि शिक्षा में सांप्रदायिकता और जातिवाद को जड़ से उखाड़ फेंकें। पठन–सामग्री में धर्म के नाम पर विभाजन पैदा करने के उद्देश्य से दकियानूसी बातें डालने की हर कोशिश का पुरजोर विरोध करना ज़रूरी है। शिक्षा संघर्ष यात्रा इस मुद्दे पर भी बुलंद रहेगी और शिक्षा के सांप्रदायीकरण के खिलाफ़ आवाज़ उठाएगी जिसमें पाठ्यचर्या, पाठ्य पुस्तकों व परीक्षाओं के ज़रिए आज़ादी की लड़ाई की विरासत स्वरूप विकसित संवैधानिक मूल्यों का उल्लंघन करनेवाले कट्टरवादी, संकीर्ण, विभाजनकारी व गैर–वैज्ञानिक एजेंडे को थोपने का विरोध शामिल है।

यह एक दर्दनाक विड़ंबना है कि इन माँगों को

लेकर आज आंदोलन खड़ा करने की बात हो रही है, जबकि ये माँगें कौमी आज़ादी की लड़ाई की प्रमुख माँगों में से थीं। जैसा कि आंदोलन से जुड़े प्रमुख शिक्षाविद प्रो. अनिल सदगोपाल बार–बार याद दिलाते हैं, ज्योतिबाराव और सावित्री फुले से लेकर भगत सिंह, आंबेडकर और गाँधी, इन सभी राष्ट्रनेताओं के लिए समान शिक्षा का अधिकार एक बुनियादी सवाल था। हर नागरिक को यह अधिकार मिले बिना आज़ादी की कल्पना भी वे नहीं कर सकते थे। आज स्थिति यह है कि शिक्षा संस्थानों में ऐसे मुद्दों या सामान्य लोकतांत्रिक हकों की बात करने वालों पर हमले होते हैं। अभिव्यक्ति की आज़ादी पर संकट गहराता जा रहा है। समान शिक्षा का अधिकार जो पूँजीवादी माने जाने वाले मुल्कों में भी आम बात है, उसके लिए यहाँ संघर्ष करना पड़ता है। अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच की स्थापना इन्हीं स्थितियों के मद्देनज़र हुई थी और अब तक इस मंच ने राष्ट्रव्यापी व्यापक जनाधार बना लिया है। हर राज्य में मंच की इकाइयों ने आम लोगों तक पहुँच कर तालीम के बुनियादी मुद्दों की बात की है और एकाधिक बार सरकारी संस्थानों को बंद करने के खिलाफ सफलतापूर्वक आंदोलन किया है।

मंच ने यात्रा की शुरूआत के लिए 2 नवंबर का दिन चुना। सन् 2000 में इसी दिन इरोम शर्मिला ने मणिपुर में भारतीय सेना की उपस्थिति और सशस्त्र सेना विशेष अधिकार अधिनियम (आफ्सपा) के दुरुपयोग के खिलाफ अपना अनशन शुरू किया था। इसी तरह यात्रा की समाप्ति के लिए 4 दिसंबर का दिन तय है। 1984 में इस दिन यूनियन कार्बाइड के कारखाने से रिसी गैस से भोपाल में चार हजार लोगों की जान गई थी। यात्रा के शुरुआत और समाप्ति के लिए ये दिन चुनकर मंच ने यह समझ दिखलाई है कि तालीम का मुद्दा महज अकादमिक माथापच्ची का नहीं, बल्कि जन–संघर्ष का मुद्दा है। आज़ादी के बाद से, खास तौर पर पिछले पच्चीस सालों में देश को जिस तरह गुलामी की ओर धकेला गया है, इसके खिलाफ व्यापक संघर्ष के अलावा कोई रास्ता नहीं बच गया है। कई अर्थों में हम उपनिवेश–कालीन स्थिति में वापस पहुँच गए हैं जहाँ तालीम को अपनी स्थितियों से नहीं बल्कि अंग्रेज़ शासकों के हितों के साथ जोड़कर देखा जाता था। जाहिर है कि इसका विरोध करना ही होगा और शिक्षा संघर्ष यात्रा इस दिशा में एक ज़रूरी कदम है। अक्सर कई लोग सवाल उठाते हैं कि ऐसे प्रदर्शन, जुलूस, आदि के विरोध से आखिर क्या निकलेगा। इसका आसान जवाब है कि कुछ न करके तो कभी कुछ भी नहीं निकलेगा। जब हुकूमत का जनविरोधी रवैया हटने का नाम न ले, तब हर किसी को अपनी हिम्मत के साथ कुछ तो करना ही होगा। जो बौद्धिक काम कर सकते हैं, वे वही करें, पर साथ में जन–संघर्ष का चलते रहना लाजिम है। कइयों को यह चिंता रहती है कि आखिर इन संघर्षों का नारा देने वाले लोग अपने बच्चों को निजी स्कूलों में क्यों भेज रहे हैं। यह सही है कि अगर हर कोई निजी स्कूलों से मुख मोड़ ले तो वे खुद ही बोरिया–बिस्तर समेट लें। पर ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि जब तक सरकारी स्कूलों की हालत सुधरती नहीं है, उन्हें तालीम का प्राथमिक जरिया नहीं बनाया जाता, और इसके बदले अगर निजी स्कूलों के लिए सुविधाएँ बढ़ाई जाती रहें तो जिसके पास संसाधन हैं, वह अपने बच्चों को निजी स्कूलों में ही भेजेगा। मुद्दा यह नहीं है कि अन्याय का विरोध करते हुए हर कोई व्यवस्था के साथ करो या मरो की स्थिति में हो। आज की जटिल परिस्थितियों में जीते हुए हर कोई अपने समझौतों में रहते हुए ही कोई प्रभावी बात कर सकता है। जो लोग संघर्ष में शामिल होने के लिए जीवन में किसी भी तरह के समझौते को न करने को पहली शर्त रखते हैं, वे दरअसल अपनी जिम्मेदारी से बचने की कोशिश करते हैं। संघर्ष यात्रा के लिए मंच का आह्वान सही वक्त पर आया है और इसमें सभी सचेत नागरिकों की भागीदारी वांछनीय है। उम्मीद है कि तालीम की लड़ाई राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक फलक अख्तियार करेगी और सरकार समान स्कूली शिक्षा के लिए प्रभावी कदम लेने को मजबूर होगी। ■

शिक्षा पर विशेष

शिक्षा की बुनियाद

ज्योत्स्ना मिलन

महात्मा गांधी ने सवाल उठाया था, शिक्षा यानी क्या? और जवाब देते हुए कहा था, ''अगर इसका (शिक्षा का) अर्थ अक्षरज्ञान जितना ही हो तब तो वह हथियार-स्वरूप हो जाएगी, जिसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। अक्षरज्ञान का भी ऐसा ही है।'' आमतौर पर अक्षरज्ञान को ही शिक्षा कहा जाता है। लोगों को पढ़ना-लिखना, हिसाब-किताब करना सिखाने को शिक्षा देना माना जाता है।

इस दृष्टि से भी हमारे समाज में महिलाओं में निरक्षरता अभी कम नहीं है और महिलाओं को पढ़ना-लिखना सिखाने का काम आसान नहीं है। नई पीढ़ी की बहन-बेटियाँ तो अब कुछ न कुछ पढ़-लिख रही हैं। लेकिन हमारी उन महिलाओं में भी पढ़ने का उत्साह अभी बचा हुआ है जो आधी उम्र पार कर आई हैं। वे भी 'सेवा' जैसी संस्थाओं से जुड़ी होने पर साक्षर होने का मौका पा जाती हैं या मोहल्ले की पढ़ी-लिखी बहन-बेटियों से फुरसत के समय में पढ़-लिख लेती हैं। हिसाब-किताब न जानने की वजह से भी हमारी गरीब, गैर-साक्षर महिलाएँ साहूकारों, मालिकों और बिचौलियों के शोषण का शिकार होती रही हैं, यह बात सभी जानते हैं।

गांधीजी ने शिक्षा के संदर्भ में कुछ बहुत बुनियादी बातों का आग्रह रखा था, जैसे बालकों और बालिकाओं को साथ-साथ शिक्षा दी जानी चाहिए। बच्चों का अधिक समय शारीरिक काम में लगना चाहिए, वह भी शिक्षक की निगरानी में और इस शारीरिक काम को शिक्षा का अंग होना चाहिए। हर बालक-बालिका के झुकाव को परख कर उसे कोई काम सौंपा जाए। अक्षरज्ञान से पहले उन्हें सामान्य ज्ञान दिया जाना चाहिए। नौ साल के बाद की शिक्षा स्वावलंबी होनी चाहिए यानी कि विद्यार्थी सीखते-सीखते ऐसे उद्योगों में लगा रहे कि उसके उत्पादन से स्कूल का खर्च चले। शिक्षा मातृभाषा में ही दी जानी चाहिए। हिंदी-उर्दू को राष्ट्रभाषा के तौर पर और अंग्रेजी को दूसरे राष्ट्रों के साथ व्यवहार के लिए भाषा के तौर पर पढ़ाएँ।

हमने अपनी शिक्षा में गांधीजी के सबसे मौलिक और मूलभूत सुझाव को देश की आजादी के बाद जगह नहीं दी, यह हमारी सबसे बड़ी चूक है। सब कोई औपचारिक शिक्षा की पात्रता भी नहीं रखते। कुछ लोगों का दिमाग अधिक सक्रिय होता है, कुछ के हाथ और हाथ की उंगलियाँ और साथ में उनकी कल्पना भी। इसलिए शिक्षा में बुनियादी तालीम को शुरू से ही जगह देने का गांधीजी का आग्रह जनहित में था, बल्कि कहें सबके हित में था। शुरू में कहीं-कहीं बुनियादी तालीम केंद्र खुले थे और कुछ समय तक काम भी करते रहे। लेकिन ये बुनियादी तालीम केंद्र जितनी जल्दी जिस तरह से गायब हुए उसी से पता चलता है कि हमारे शिक्षा-तंत्र की उसमें कितनी आस्था थी, वे इससे कितने आश्वस्त थे? अगर सरकार की तथा लोगों की, गांधीजी द्वारा सुझाई इस शिक्षा प्रणाली में आस्था होती तो भारत की तस्वीर कुछ अलग होती। अक्षरज्ञान का माध्यम उद्योग होता तो हो सकता है आज इतनी बेकारी चारों ओर न होती।

हम मानते हैं कि 'विद्या विनयेन शोभते', विद्या विनय से शोभित होती है। पर अपना अनुभव शिक्षा के मामले में हताश करने वाला है। कई बार देखने में आया कि हमारे बच्चे पढ़-लिखकर भी बेकार घूमते रहते हैं। कुछ ऐसे काम हैं जिन्हें करने में उन्हें झिझक महसूस होती है। पढ़े-लिखे होकर बागवानी कैसे की जा सकती है? गाय-भैंसें कैसे चराई जा सकती हैं? खाना कैसे पकाया जा सकता है या कंडे (गोबर के उपले) कैसे थोपे जा सकते हैं? बात गाँवों की हो या शहरों की, इस मामले में पढ़े-लिखे लड़के-लड़कियों का सोच लगभग एक-सा मिला। यानी हम कह सकते हैं कि हमारी औपचारिक शिक्षा हमें काम में भेद करना सिखाती है, काम को छोटा-बड़ा बनाती है।

गांधीजी का कहना था कि ''कोई भी काम, काम होता है, वह छोटा-बड़ा नहीं होता।'' उनके आश्रम में आकर रहना चाहने वाले व्यक्ति की वहाँ रह पाने की

पात्रता की कसौटी शौचालय सफाई का काम होती थी। इस शिक्षा ने अधिकतर लोगों को बेकार बनाया है, वे कहीं के नहीं रहे। न उनके पास कोई हुनर है, न कोई दूसरा काम, ऊपर से पढ़े-लिखे होने का अहंकार अलग पनप जाता है। अपने गाँवों के या शहरों के भी अनपढ़ और गरीब लोगों के प्रति हिकारत का-सा भाव उनके मन में घर कर जाता है कि वे जाहिल, गंवार हैं। जब कि हकीकत में पढ़े-लिखे चाहे वे न हों, पर जीवन के अनुभव से उपजा ज्ञान उनके पास भरपूर होता है। हमारे किसानों को जमीन की, मिट्टी की ठीक-ठाक जानकारी परंपरा से संवर्धित होती हुई विरासत में मिलती रही है। जमीन का, मिट्टी का रखरखाव, बीज की हिफाजत, मेड़ पर कौन-से पेड़, कितने और कैसे लगेंगे, खाद कैसे तैयार की जाएगी? बारिश कब आएगी? सब कुछ का संचित ज्ञान उन्हें विरासत में मिलता रहा था।

नई तकनीकों, रासायनिक खादों, नए उपकरणों ने उनके ज्ञान को गड़बड़ा दिया है। वे अपने ज्ञान को छोड़कर नए के फेर में पड़ गए हैं, अपनी मिट्टी से, अपने बीज से उनका वह लगाव भी नहीं रहा। यही बात और भी कामों के बारे में कही जा सकती है। पढ़-लिख कर पिता के पारंपरिक धंधों के ज्ञान को सहेजना, उनके काम को लगाव और चाव से करना नई पीढ़ी को जरा भी नहीं रुचता।

पढ़े-लिखों और गैर पढ़े-लिखों के काम अलग हो गए हैं, वे सम्मानजनक या असम्मानजनक हो गए हैं। महिलाओं और पुरुषों के काम अलग हो गए हैं। जैसे घर में कपड़े धोना, खाना पकाना, झाड़ू लगाना आदि काम महिलाओं के काम माने जाते हैं। अगर सवाल पूछा जाए कि बड़े-बड़े होटलों में खाना कौन पकाता है? लांड्री में कपड़े कौन धोता है? दफ्तरों में सफाई कौन करता है? चक्की पर गेहूँ कौन पीसता है? तो जवाब होगा कि पुरुष। फिर आप पूछेंगे, ये महिलाओं के काम कैसे हुए? तब आपको जवाब मिलेगा कि 'ये तो रोजी के काम हैं, रोजगार हैं।' तब आप सोचने पर मजबूर होंगे कि यानी अब समझ में आया कि खाना पकाकर, कपड़े धोकर पैसे मिलते हों तब वे काम आदमियों के हो जाते हैं और यही काम घर में मुफ्त में किए जाते हैं, इसलिए वे महिलाओं के काम कहलाते हैं।

हमारी महिलाओं के हिस्से सदा घर का काम रहा और लड़कियों को पढ़ाने के खिलाफ यह तर्क कि पढ़-लिख कर क्या करोगी, करना तो चूल्हा-चौका ही है। इसके अलावा महिलाओं के ऊपर बुद्धिहीनता का आरोप कि 'महिला की बुद्धि पैर के तलुए में होती है' और उसकी औकात पैर की जूती के बराबर है, कभी भी बदल लो। पर अब जब महिलाओं को पढ़-लिखकर अपने को साबित करने का मौका मिला है तो शिक्षा और हुनर दोनों से सुसज्जित होकर वह आगे बढ़ते जाना चाहती है। उसमें आत्मविश्वास जागा है, वह अपनी क्षमता को पहचान रही है, बल्कि वह उससे चमत्कृत भी है।

जब हम पढ़ते थे तो निजी स्कूल गिने-चुने ही थे, वे भी 'लो प्रोफाइल' वाले थे। लेकिन सरकारी स्कूलों में जाना आम बात थी। आज के विपरीत तब सरकारी स्कूलों में निचले तबके के अलावा मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग के भी बच्चे जाया करते थे। आमतौर पर ये स्कूल घर के आस-पास ही होते थे, यानी बच्चों की पैदल पहुँच में, जिनके लिए किसी तरह के वाहन की जरूरत नहीं होती थी। आज सरकारी स्कूलों को बंद करने की तैयारी में सरकार लगी है और माँ-बाप भी अपने बच्चों को दूर के, तथाकथित अच्छे और महंगे स्कूलों में भेजना पसंद करते हैं। परिणामस्वरूप हर तबके के बच्चों का साथ-साथ पलना-बढ़ना, पढ़ना-लिखना संभव नहीं रह गया है। स्कूलों के घर से दूर होने के कारण बच्चे ऑटो से, वैन से या बसों से स्कूल जाते हैं।

सुबह सात बजे से निकले बच्चे ऊँघते हुए जाते हैं और दोपहर दो-तीन बजे ऊँघते हुए थके-मांदे लौटते हैं। तिस पर ढेर सारा होमवर्क भी होता है। यानी सबसे अधिक कटौती उनके खेल के समय में होती है। पिछले वर्षों में इस बीच एक और राक्षस, कार्टून-नेटवर्क के रूप में विकसित हो गया है और बच्चे उसकी गिरफ्त में जकड़ते जा रहे हैं।

मैं सदा कहती आई हूँ (जब मुझे कोठारी आयोग की पड़ोसी स्कूल की सिफारिश का पता भी नहीं था) कि हमारे बच्चे हमारे मोहल्ले के ही स्कूल में क्यों न पढ़े? मोहल्ले के स्कूल को अच्छा स्कूल क्यों नहीं होना चाहिए? अगर माता-पिता चाहें और दिलचस्पी लें तो यह अब भी असंभव बात नहीं है। रोज टैंकरों पेट्रोल स्कूल वाहनों में फूँकता है और बच्चों का खेलने-कूदने का समय भी।

हमारा मध्यवर्ग विशेष और महंगे स्कूलों का आग्रही

होता जा रहा है। वह समझ नहीं पा रहा है कि वह अब भी मानसिक रूप से गुलाम है। महंगी शिक्षा अच्छी ही होगी, इसका क्या भरोसा? इसके अलावा यह भी कि तकनीकी शिक्षा के विशेष स्कूल हमारे देश में खोलना चाहने वाले देशों के इरादे साफ हैं कि भारत के होशियार तकनीशियन पढ़-लिखकर उनके काम आयें, उनके देश में रहकर नौकरी करें। लेकिन न तो हम, न हमारी सरकार कुछ समझने को तैयार है।

इस साल अप्रैल में भारत सरकार ने पड़ोसी स्कूल वाली कोठारी आयोग की सिफारिश का मजाक उड़ाते हुए नई शिक्षा नीति लागू की है। सिर्फ शिक्षा को अनिवार्य करने से समस्या हल नहीं होने वाली है, इस शिक्षा का स्वरूप क्या हो, कैसा हो यह भी सोचना जरूरी है। एक-दो किलोमीटर की दूरी का प्राइवेट स्कूल, जिसमें पचहत्तर प्रतिशत बच्चे नवधनाढ्य वर्ग के हों और उसी में आरक्षित के नाम पर पच्चीस प्रतिशत बच्चे आस-पास की गरीब बस्तियों के भी जबरन थोप दिए जाएं, यह कोठारी आयोग की पड़ोसी स्कूल की परिकल्पना कत्तई नहीं है। हर तबके के बच्चे साथ-साथ पढ़ें यही पड़ोसी स्कूल का मतलब है।

हमने आजादी के इतने सालों बाद भी अपने देश के लोगों के अनुरूप कोई शिक्षा प्रणाली विकसित नहीं की है। जो प्रणाली अंग्रेजों ने हमें दी उसी को हमने ज्यों-का-त्यों ले लिया। औद्योगिक देशों और कृषि प्रधान देशों की शिक्षा एक-सी कैसे हो सकती है? आज भी हम अपने बच्चों को मानो दूसरे देशों की जरूरत के हिसाब से पढ़ा रहे हैं।

अब हमारे शिक्षाविदों को चाहिए कि वे अपने देश के अनुरूप शिक्षा-प्रणाली विकसित करने का प्रयत्न करें जिसमें औपचारिक शिक्षा हुनर यानी उद्योग के माध्यम से दी जा सके। शिक्षा से बच्चे का सर्वांगीण विकास तभी हो सकता है जब बच्चों की बुद्धि, उनके भावजगत, उनके कल्पनाजगत और उनके कर्मजगत (यानी हाथ से किए जाने वाले कारीगरी के काम) को खिलने के, विकसित होने के अधिक-से-अधिक अवसर उन्हें घर में, स्कूल-कॉलेजों में सुलभ हो सकें। इस दृष्टि से शिक्षा के संबंध में विचार करने की सख्त जरूरत है।

(जनसत्ता, 24 अगस्त, 2010 से साभार)

■

शिक्षा पर विशेष

शिक्षा बेचने और छीनने का एजेंडा

डॉ. अनिल सद्‌गोपाल

जब से मानव संसाधन विकास मंत्री कपिल सिब्बल ने अपने सौ दिनी एजेंडे का ऐलान किया है तब से कॉरपोरेट घरानों द्वारा समर्थित मीडिया इसके यशोगान में जुटा हुआ है। लेकिन कुल मिलाकर फोकस एक ही सवाल पर हो गया है-दसवीं बोर्ड की परीक्षा को वैकल्पिक बनाकर शिक्षा को 'तनावमुक्त' करने पर। गौरतलब है कि सिब्बल के एजेंडे में तो कई मुद्दे हैं जिनके दूरगामी खतरनाक परिणामों पर जनता का ध्यान फोकस ही नहीं हो पाया है। सिब्बल की यही राजनीति थी कि दसवीं बोर्ड का सवाल उठाकर सारी बहस को वैश्विक बाजार के असली एजेंडे से भटका देना। ऐसा ही एक और भटकाऊ मुद्दा संसद में पारित तथाकथित शिक्षा अधिकार विधेयक, 2009 (जो राष्ट्रपति के दस्तखत के बाद अधिनियम बन चुका है) में निजी स्कूलों में 25 फीसदी मुफ्त शिक्षा देने का है। तो फिर सिब्बल के एजेंडे की असलियत पर नजर डालें–

पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च शिक्षा तक पूरी शिक्षा व्यवस्था में सार्वजनिक-निजी साझेदारी या पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप (पी.पी.पी.) की नवउदारवादी नीति को लागू करना, यानी शिक्षा में निजी पूँजी की भूमिका बढ़ाने और उसके मुनाफे को सुनिश्चित करने के लिए सरकारी खजाने से धन और अन्य सार्वजनिक संसाधन उपलब्ध कराना।

विदेशी विश्वविद्यालयों को भारत में बेलगाम जगह देने के लिए नया कानून बनाना लेकिन देश में मौजूद लगभग 500 विश्वविद्यालयों और 18,000 कालेजों को गुणवत्तापूर्ण बनाने का कोई कार्यक्रम पेश नहीं करना।

शिक्षा में विदेशी पूँजी निवेश की पैरवी करने के लिए भ्रामक बयानबाजी करना कि सरकार के पास उम्दा शिक्षा मुहैय्या कराने के लिए संसाधन नहीं है और यह तथ्य छिपा लेना कि सवाल संसाधनों की कमी का कतई नहीं है, वरन् असली सवाल है कि भारत के शासक वर्ग की यह प्राथमिकता कभी नहीं रही है कि आम जनता को गुणवत्तापूर्ण, समतामूलत, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक शिक्षा दी जाए।

समावेशी शिक्षा के नाम पर दलितों व आदिवासियों को सस्ते ऋण उपलब्ध कराने की घोषणा जिसका असली मकसद शिक्षा के निजीकरण की रफ्तार को तेज करना है, चूँकि लाखों रुपए के ऋण की जरूरत केवल मुनाफे के लिए चलने वाले निजी संस्थानों में पढ़ने के लिए पड़ती है, न कि उम्दा दर्जे के किसी सरकारी संस्थान (जैसे केंद्रीय या नवोदय विद्यालय, आई.आई.टी., रीजनल इंजीनियरिंग कालेज, एम्स, केंद्रीय विश्वविद्यालय आदि) में पढ़ने के लिए।

पूरे भारत में 12वीं की परीक्षा के लिए एक बोर्ड स्थापित करने और उच्च शिक्षा में प्रवेश के लिए अमरीकी जी.आर.ई. जैसा एकरूपी मानकीकृत मूल्यांकन परीक्षण शुरू करने का मध्यवर्ग को लुभाने वाला प्रस्ताव जिसके पीछे छिपी हुई है निम्न वर्गीय व निम्नजातीय तबकों और पिछड़े इलाकों में रहने वाले लोगों, यानी देश की 80 फीसदी से अधिक जनता को उच्च शिक्षा व बेहतर कैरियर से वंचित रखने की साजिश। चूँकि आज की बहुपरती शिक्षा व्यवस्था में अधिकांश को घटिया शिक्षा देने का मकसद कुशल कामगारों की केवल उतनी बड़ी फौज तैयार करना है जिसकी वैश्विक बाजार को जरूरत है, शेष की उक्त तरीकों से छटनी की जाए ताकि उन्हें आगे बढ़ने से रोका जा सके।

उच्च शिक्षा के लिए गठित यशपाल समिति को बिना किसी बहस के लागू करने का वायदा क्योंकि इसने विदेशी विश्वविद्यालयों, निजीकरण व बाजारीकरण और

पी.पी.पी. जैसे प्रस्तावों का समर्थन किया है।

संप्रग सरकार के शिक्षाई एजेंडे का 'कोहिनूर' तथाकथित 'शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009' है जिसे एक ऐतिहासिक कानून के रूप में पेश किया जा रहा है। दरअसल, यह एक ऐतिहासिक धोखा है। आखिर ऐसा क्यों? मेरे तीन सीधे-सादे सवालों पर गौर कीजिए। क्या कोई मौलिक अधिकार घटिया शिक्षा का हो सकता है? क्या कोई मौलिक अधिकार गैर-बराबरी की शिक्षा का हो सकता है? क्या कोई मौलिक अधिकार भेदभावपूर्ण शिक्षा का हो सकता है? यदि आपका इन तीनों सवालों को जवाब 'ना' में है तो आप इस कानून को ऐतिहासिक धोखा करार देने में जरा भी नहीं हिचकेंगे।

उक्त कानून के तीन स्पष्ट उद्देश्य हैं। पहला, सरकार द्वारा सभी बच्चों को समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा मुहैय्या कराने की अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़ना। दूसरा, केंद्रीय या नवोदय विद्यालयों, 11वीं योजना में प्रस्तावित 6000 मॉडल स्कूलों या विभिन्न राज्यों में ऐसी अन्य अभिजात् श्रेणियों के स्कूलों को छोड़कर शेष सारी सरकारी स्कूल व्यवस्था को ध्वस्त करना। तीसरा, पी.पी.पी. के अलग-अलग रूपों के जरिए स्कूली शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण की रफ्तार को तेज करना, मसलन स्कूल वाउचर देना (उदाहरणतः, निजी स्कूलों में 25 फीसदी 'मुफ्त' शिक्षा का भ्रामक प्रावधान), निजी एजेंसियों द्वारा सरकारी स्कूलों को 'गोद' लेना, महंगे स्कूलों को बढ़ावा देने के लिए बच्चों को सस्ते कर्ज देना, स्कूलों को कर माफी व अन्य प्रकार की सब्सिडी के प्रावधान या सरकारी धन के सहारे मुनाफा कमाने वाले स्कूल शुरू करवाना। इस कानून में कहीं भी सरकार या स्थानीय निकायों को इन शिक्षा की दुकानों की दिन-दूनी रात-चौगुनी फीसों पर नियंत्रण करने की जिम्मेदारी नहीं दी गई है। कानून की इस चौंकाने वाली तस्वीर के बारे में यदि कोई शक है तो सिब्बल के संसद में दिए गए इस कथन पर ध्यान दें कि ''सरकार के पास इतने संसाधन नहीं है कि... वह गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने वाले स्कूल खोल सके।'' तो फिर क्या यह कानून सरकारी तंत्र में घटिया शिक्षा देने के लिए बनाया गया है ताकि निजीकरण और बाजारीकरण की रफ्तार तेज की जा सके?

अब गौर कीजिए यशपाल समिति की रपट पर जिसे शिक्षाई विमर्श में चतुर भाषा के जरिए वैश्विक बाजार के एजेंडे पर पर्दा डालने वाली रपट के रूप में याद किया जाएगा। रपट के शुरू में ही ये उदात्त विचार हैं, ''विश्वविद्यालय वह जगह है जहाँ नए विचार अंकुरित होते हैं, जड़ें जमाते हैं... जो ज्ञान की पूरी दुनिया को समेट लेती है...जहाँ सृजनशील मानस...नए यथार्थों का नजरिया गढ़ते हैं...जहाँ ज्ञान की तलाश में सत्य की जड़ अवधारणाओं को चुनौती दी जाती है।'' इस ऊँचाई पर चढ़ने के बाद यशपाल समिति वैश्विक बाजार और कॉरपोरेट पूँजी की धरातल पर उतरकर कहती है, ''उच्च शिक्षा की क्षमता को वर्तमान स्तर से दो गुना करने के मकसद के लिए आवश्यक होगा कि निजी क्षेत्र की सहभागिता को प्रोत्साहन दिया जाए।'' फिर रपट अपना दामन साफ रखने के लिए सरकार की जवाबदेही का जिक्र करके ''सरकारी, निजी और सार्वजनिक-निजी साझेदारी (पी.पी.पी.) के जरिए स्थापित'' संस्थानों की वकालत करती है यानी सरकारी संसाधन निजी पूँजी को सौंपकर बाजारीकरण करने की पैरवी करती है। ऊँची फीस लेकर मुनाफा कमाने वाले संस्थानों को न्यायोचित ठहराने के लिए रपट कहती है कि ''विद्यार्थियों का एक बड़ा तबका है जो अपनी शिक्षा का खर्च दे सकता है। (खंड 2.3.6.1)'' ऐसे (कु)तर्क ठीक वही हैं जो विश्व बैंक शिक्षा का बाजारीकरण करवाने के लिए 1980 के दशक से दे रहा है। गौरतलब है कि पी.पी.पी. को संप्रग सरकार ने 11वीं योजना के शिक्षायी एजेंडे का मूलमंत्र बना दिया है। भारत में शिक्षा का अनुमानित सालाना बाजार ढाई लाख करोड़ रुपए (तीन साल पुराना अनुमान) का है। इसलिए सिब्बल, यशपाल समिति की रपट को लागू करने की हड़बड़ी में हैं।

सिब्बल ने मंत्रालय का प्रभार संभालते ही घोषणा की थी कि उनकी प्राथमिकता विदेशी विश्वविद्यालयों को भारत में लाने के लिए एक विधेयक बनाने की है। रही-सही कसर यशपाल समिति ने पूरी कर दी। खंड 2.3.5 में

रपट कहती है कि ''यदि दुनिया के विश्वविद्यालयों में से सर्वश्रेष्ठ 200 भारत में आना और काम करना चाहते हैं तो उनका स्वागत होना चाहिए।'' लेकिन विरोधाभासों से भरपूर रपट यह भी कहती है, ''...विश्वविद्यालय अपने सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिवेश के नैसर्गिक संबंधों में ही विकसित होते हैं और उनमें से सर्वश्रेष्ठ को भी न तो कहीं अन्यत्र उठाकर रोपा जा सकता है और न ही रोपने के बाद अच्छे काम की अपेक्षा की जा सकती है।'' तो फिर उनका स्वागत क्यों?

यशपाल समिति की बहुचर्चित सिफारिश है कि यू.जी.सी., ए.आई.सी.टी.ई., एन.सी.टी.ई., आदि नियामक एजेंसियों की जगह एक उच्च-प्राधिकार वाला राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया जाए। रपट के अनुसार ये संस्थाएँ अपेक्षा के अनुसार काम नहीं कर पाई हैं। लेकिन क्या गारंटी है कि राष्ट्रीय आयोग भी कालांतर में उसी रास्ते पर नहीं चल देगा? **कहीं यह सिफारिश बाजार को शिक्षा पर निरंकुश राज करने का खुला निमंत्रण तो नहीं है?**

हकीकत यह है कि संप्रग सरकार का शिक्षाई एजेंडा आर्थिक एजेंडे का अभिन्न हिस्सा है। सन् 1991 से वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था व नवउदारवाद के जिस रास्ते पर देश को विश्व बैंक-अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के दिशा-निर्देशों पर चलाया जा रहा है वहाँ केवल उन्हीं शैक्षिक सुधारों के लिए जगह होगी जो वैश्विक बाजार और कॉरपोरेट पूँजी के हित में होंगे। लेकिन हर नए प्रस्ताव को समावेशी नीति की लोकलुभावनी चाशनी में परोसा जाएगा।

इसीलिए मुख्यधारा की सभी राजनीतिक पार्टियाँ इस एजेंडे को खुलकर या मौन समर्थन दे रही हैं। संसद में भी तथाकथित 'शिक्षा अधिकार विधेयक, 2009' के वाम से दक्षिण तक की सभी पार्टियों का समर्थन मिला। हालिया खबर है कि संघ परिवार का नेतृत्व सिब्बल के प्रस्तावों का प्रशंसक बन गया है। इसमें तो रंचमात्र अचरज नहीं होना चाहिए आखिरकार, भाजपा-नीत राजग सरकार ने अपने कार्यकाल (1998-2004) में ऐसे अनेक प्रस्तावों का सूत्रपात किया था जिन्हें कांग्रेस-नीत संप्रग सरकार अपने पिछले कार्यकाल से ही आगे बढ़ा रही है। मिसाल के बतौर निजीकरण को और प्रोत्साहित करने के लिए सस्ते शिक्षक ऋण की बात लीजिए। इस नीति की शुरूआत पी.पी.सी. के एक मॉडल के रूप में राजग सरकार ने की थी जिसे संप्रग सरकार ने आगे बढ़ाया। शिक्षा में पी.पी.पी. का पहला राजनीतिक प्रस्ताव भाजपा के सन् 1998 के चुनावी घोषणा-पत्र में था और इसको अमल में लाने के लिए योजना आयोग ने सन् 2003 में एक उप-समूह का गठन किया जिसकी रपट सन् 2004 में संप्रग के कार्यकाल में पेश हुई और स्वीकारी गई। साफ है कि नरसिम्हा राव सरकार को संयुक्त मोर्चा व राजग सरकारों से और फिर राजग सरकार को संप्रग सरकार से जोड़ने वाला नवउदारवादी नीतियों का नीति-निर्देशक सूत्र आज भी मौजूद है। संघ परिवार का समर्थन दिखाता है कि **बाजारवादी शिक्षा व्यवस्था में सांप्रदायिक ताकतें अपने प्रतिगामी एवं विभाजनकारी मूल्यों को थोपने की गुंजाईश नए सिरे से देख रही हैं।**

नवउदारवाद की सबसे बड़ी त्रासदी है कि बहुतेरे बुद्धिजीवी इस नीति के तर्कसंगतिकरण और वैधानीकरण में शासक वर्ग का साथ दे रहे हैं, जबकि अपेक्षा थी कि वे जनता के पक्ष में खड़े होकर इस नवउदारवादी एजेंडे की हकीकत को उजागर करते। इसलिए जनता के पास एक ही विकल्प है कि वह इस एजेंडे की जगह सार्वजनिक धन पर आधारित लेकिन जन-केंद्रित एवं लोकतांत्रिक ढाँचे में संचालित समतामूलक और विविधतापूर्ण गुणवत्ता की स्कूली व उच्च शिक्षा व्यवस्था खड़ी करने की अपनी लड़ाई को और मजबूत करें। इस संदर्भ में हमें सरकार द्वारा जनता के सामने फेंके गए हर लॉलीपॉप की भटकाऊ राजनीति को समझना होगा। तभी एक जनपक्षी शिक्षा व्यवस्था की ओर हम आगे बढ़पाएँगे जो मेहनतकश आवाम के यथास्थिति को बदलने वाले ज्ञान-दर्शन पर टिकी होगी। **निःसंदेह, इस दृष्टि का निर्माण करने एवं उसको स्थापित करने में नेतृत्वकारी भूमिका संघर्षशील मजदूर वर्ग की होगी।**

(जनमत, अक्टूबर, 2009)

■

अंगरेजी का साम्राज्यवादी कारोबार

जरूरी है भाषा सेनानी फिलिपसन के बारे में जानना

सुयश सुप्रभ

हम एक ऐसे दौर में जी रहे हैं जब शोषण के अनेक रूपों को विकास की सहज–स्वाभाविक प्रक्रिया साबित करने की कोशिश की जा रही है। चाहे अल्पसंख्यकों, आदिवासियों और अत्यंत छोटे समुदायों की भाषाओं के हाशिए पर जाने की बात हो या उनके संसाधनों पर सरकार या बड़ी कंपनियों द्वारा कब्जा किए जाने का मसला, हर बात को सामाजिक डार्विनवाद से जोड़कर विविधता के खत्म होने से जुड़े खतरों से मुँह मोड़ने की कोशिश की जाती है। जिन्हें इस तथाकथित विकास प्रक्रिया में अपना हिस्सा मिल जाता है, वे चुप्पी साधे रहते हैं लेकिन कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो परदे के पीछे की राजनीति को न केवल समझने की कोशिश करते हैं बल्कि अपने मजबूत तर्कों से हाशिए पर जा रहे लोगों के उपेक्षित मुद्दों को बहस के केंद्र में लाने का भी काम करते हैं। ऐसे ही एक विद्वान है रॉबर्ट फिलिपसन, जिन्होंने 1992 में 'लिंग्विस्टिक इंपीरियलिज्म' (भाषाई साम्राज्यवाद) जैसी महत्वपूर्ण किताब लिखकर एक ऐसे मुद्दे पर विश्वव्यापी बहस छेड़ दी है, जिसकी अनदेखी करने की तमाम कोशिशें की जाती रही हैं। उनकी एक और महत्वपूर्ण किताब 'लिग्विस्टिक इंपीरियलिज्म कंटीन्यूड' (जारी) 2013 में प्रकाशित हुई है। इसमें उन्होंने इक्कीसवीं सदी में भाषाई साम्राज्यवाद के नए संदर्भों को शामिल किया है। ब्रिटेन में जनमे और अभी डेनमार्क के कोपेनहेगन बिजनेस स्कूल में अंगरेजी के शोध प्रोफेसर फिलिपसन ने यूरोप में अंगरेजी के बढ़ते प्रभाव को लेकर 2003 में 'इंग्लिश ऑनली यूरोप?' नाम की किताब भी लिखी है। उनके तर्कों का महत्व इस बात से और बढ़ जाता है कि उन्होंने ब्रिटिश काउंसिल में काम करने के दौरान अंगरेजी के प्रभुत्ववादी रूप को देख लिया था।

हमें तमाम मंचों पर यह बात बार–बार कहने की जरूरत है कि जो संस्थाएँ अराजनैतिक होने का दावा करती हैं उनकी अघोषित राजनीति ज्यादा खतरनाक होती है। ब्रिटिश काउंसिल जैसी संस्था की असलियत बतानेवाले फिलिपसन का एक बहुत बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने अंगरेजी को उत्पाद बनाकर बेचनेवाली इस संस्था की एक ऐसी सुनियोजित कार्रवाई की ओर हमारा ध्यान खींचा है, जिसका इतिहास औपनिवेशिक काल तक जाता है। जिस संस्था की स्थापना में ब्रिटेन की बड़ी तेल कंपनियों की भूमिका रही हो, उसे खुद को अराजनैतिक घोषित करने के लिए कितनी राजनीति करनी पड़ती होगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। 1989 में ब्रिटिश काउंसिल के महानिदेशक ने अंगरेजी को उत्तरी समुद्र में मिलनेवाले तेल के बाद ब्रिटेन की आय का दूसरा मुख्य स्रोत बताया था। 1935 में स्थापित ब्रिटिश काउंसिल अंगरेजी को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ भाषा साबित करने पर तुली हुई है और यह भाषाई साम्राज्यवाद को मजबूत बनानेवाली उसकी नीतियों से साफ झलकता है। अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष विश्वबैंक जैसे संस्थानों से मिलनेवाली आर्थिक सहायता की आड़ में विकासशील और अविकसित देशों में अंगरेजी को आवश्यकता से अधिक महत्व देनेवाली नीतियाँ लागू कराने में ब्रिटिश काउंसिल की बहुत बड़ी भूमिका रही है।

ब्रिटिश काउंसिल की रिपोर्टों में अंगरेजी को उत्पाद के रूप में बेचने के लिए ऐसी मान्यताएँ प्रस्तुत की जाती हैं, जिनका वास्तविकता से कोई लेना–देना नहीं होता। हमें इन तरीकों के बारे में ह्यू नामक विद्वान बताते हैं। उन्होंने 1992 में दक्षिण अफ्रीका में विश्वबैंक के अधिकारियों द्वारा शिक्षण में द्विभाषिकता का समर्थन नहीं करने की घोषणा करने के बारे में लिखा है। यह औपनिवेशिकता के चंगुल से निकलनेवाले देशों में साम्राज्यवाद से जुड़ी भाषाओं के वर्चस्व को कायम रखने के प्रयास का छोटा–सा हिस्सा था। विश्वबैंक से मिलने वाली आर्थिक सहायता में स्थानीय भाषाओं के उत्थान की कोई गुंजाइश नहीं होती है। स्थानीय भाषाओं से अंगरेजी की ओर ले जाने की सुदृढ़ व्यवस्था बनानेवाले तंत्र को नवसाम्राज्यवादी तंत्र ही कहा जाएगा। जो लोग एशिया, अफ्रीका आदि के पूर्व उपनिवेशों में अंगरेजी

के प्रति बढ़ते रुझान का उदाहरण देकर भाषाई साम्राज्यवाद की बात को नकारते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि तंत्र के दबाव के कारण आम जनता की मानसिकता में बदलाव आना स्वाभाविक है। असल में अंगरेजी के संदर्भ में दबाव और रुझान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

फिलिपसन हमारे लिए महत्वपूर्ण इसलिए भी हैं कि उन्होंने भाषा के मुद्दे पर बात करते हुए एक ऐसा सभ्यता विमर्श शुरू किया है जिसकी अनदेखी करके हम भाषाई साम्राज्यवाद को ठीक से समझ ही नहीं सकते। वे औपनिवेशिकता के संदर्भ में विजेताओं और विजितों दोनों की असामान्य मानसिक अवस्था का उल्लेख करते हैं, जहाँ विजेता अपनी भाषा को संसार की एकमात्र उपयोगी भाषा मानते हैं, वहीं विजित अपनी ही भाषाओं को हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। उन्होंने अपने एक लेख में विजेताओं की मानसिकता के बारे में बताते हुए आशीष नंदी की इस बात को उद्धृत किया है कि उपनिवेशवाद का भारतीयों की तुलना में अंगरेजों पर अधिक असर पड़ा क्योंकि साम्राज्य के आदर्शों को ब्रिटेन के सभी वर्गों ने आत्मसात कर लिया था। इसी लेख में उन्होंने साम्राज्य को बनाए रखने में मददगार शिक्षा पर बर्ट्रेंड रसेल के विचार को भी उद्धृत किया है। रसेल ने इस शिक्षा का मूल्यांकन करके बताया था कि अपने नागरिकों को ऐसी शिक्षा देने का उद्देश्य था ऐसे लोगों को तैयार करना जो सत्ता और शक्ति से जुड़े पदों के लिए योग्य हों। ऐसे व्यक्ति में ऊर्जावान लेकिन भावहीन और चुस्त–दुरुस्त होने के गुण अपेक्षित थे। उन्हें इस तरह प्रशिक्षित किया जाता था कि उनकी मान्यताओं में किसी तरह का बदलाव संभव नहीं था। उन लोगों के मन में यह बात बैठ जाती थी कि उनके जीवन का एक मिशन है। यह मिशन था अपनी भाषा और सभ्यता का पूरे विश्व में प्रचार–प्रसार करना। रसेल ने इस बात पर आश्चर्य भी प्रकट किया है कि यह शिक्षा अपने तमाम लक्ष्यों को पाने में सफल साबित हुई। उनके अनुसार इन लक्ष्यों को समझ, सहानुभूति और कल्पनाशीलता के लोप की कीमत पर प्राप्त किया गया था।

औपनिवेशिक शिक्षा के कारण भारत में ऐसे सोच वाले बहुत से बुद्धिजीवी मिल जाएँगे जो साहित्य, दर्शन आदि के मामलों में अंगरेजी की सर्वश्रेष्ठता की औपनिवेशिक मान्यता का समर्थन करते हैं। सच्चाई तो यह है कि जर्मन, रूसी, इतालवी, चीनी, जापानी जैसी भाषाएँ दर्शन, साहित्य, विज्ञान आदि में अंगरेजी से किसी भी तरह कमतर नहीं हैं। न्गूगी व थ्योंगो ने गुलाम रहे देशों के बुद्धिजीवियों की उस मानसिकता के बारे में लिखा है जिसके कारण वे अपनी भाषाओं में छिपी संभावना से अनजान बने रहते हैं। जब समाज के महत्वपूर्ण मसलों के प्रति जनता को जागरूक बनानेवाले बुद्धिजीवियों में अपनी भाषाओं को लेकर हीनभावना रहेगी तो आम जनता की मानसिकता कैसी होगी इसके बारे में कुछ कहने की जरूरत ही नहीं है।

भाषा के मसले पर सही संदर्भों के साथ तर्क पेश करके ही अंगरेजी के प्रचार तंत्र का सामना किया जा सकता है। अंगरेजी को उत्पाद बनाकर उससे खरबों रुपए कमाने वाली संस्थाएँ अपनी प्रचार सामग्री को तथ्य के रूप में पेश करती हैं। अंगरेजी को ज्ञान की प्राप्ति के एक साधन के रूप में पेश करने के बदले इसे एकमात्र साधन साबित करने की कोशिश की जाती है। इतिहास, राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र आदि की पढ़ाई के लिए अंगरेजी को माध्यम बनाए रखने का मतलब है अंगरेजी किताबों के करोड़ों रुपए के बाजार को बनाए रखना। अगर उच्च शिक्षा में भारतीय भाषाओं को शामिल किया जाएगा तो इससे यह बाजार मंदा पड़ जाएगा। इस बात को अच्छी तरह जानने–समझनेवाली ताकतें शिक्षा नीति में अंगरेजी के वर्चस्व को हटाने की हर कोशिश का जोरदार विरोध करती हैं। ऐसी कोशिशें विश्वबैंक से लेकर ब्रिटिश काउंसिल तक हर स्तर पर देखी जा सकती हैं। इन कोशिशों को सिलसिलेवार ढंग से हमारे सामने प्रस्तुत करने वाले तमाम लेखकों की किताबों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए। आलोचना के हर स्वर को 'निरर्थक षड्यंत्र सिद्धांत' कहकर खारिज करने की कोशिश की जाती है। ऐसे समय में फिलिपसन का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि वे खारिज करने की इस प्रवृत्ति को अंगरेजी को फैलाने के उन बड़े फैसलों और प्रक्रियाओं की जानकारी को सहेजकर रखने की कोशिश को हतोत्साहित करने का षड्यंत्र बताते हैं, जिनकी बुनियाद पर शोषण और असमानता का तंत्र टिका हुआ है। अगर हमें लोकतंत्र की रक्षा करनी है तो हमें बहुभाषिकता को बढ़ावा देना ही होगा। हमें यह बात डंके की चोट पर कहनी चाहिए कि विविधता का सम्मान करनेवाले आधुनिक विश्व में किसी एक भाषा को मानवता की भाषा नहीं कहा जा सकता। यूरोप के लोगों ने यह बात पहले ही कह दी है। अब इसकी घोषणा करने की बारी हमारी है। ■

एक प्रतिबद्ध पुस्तकालय

नवीन

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें देखते ही अनायास श्रद्धा होती है, उनके चेहरे, उनके हाव–भाव और उनकी बातचीत से यह इलहाम होता है कि जिसे देख रहे हैं वह भले ही अपने को साधारण मानता हो पर है वह एक असाधारण व्यक्ति। कितने लोग होंगे, जो संपत्ति और संतान मोह से मुक्त होंगे? ऐसे ही विरल व्यक्तियों में प्रो0 उदयशंकर जी हैं। मुजफ्फरपुर की बेशकीमती डेढ़ कट्ठा जमीन और तीस लाख रुपए देकर उन्होंने एक 'प्रतिबद्ध' पुस्तकालय की स्थापना की है।

उदय बाबू कभी किसी समाजवादी दल के सदस्य नहीं बने पर उन जैसे प्रतिबद्ध समाजवादी मैंने बहुत कम देखे हैं। समाज में गाँधीवादी और समाजवादी मूल्यों को स्थापित करने के प्रयत्न में वह पिछले कई वर्षों से बच्चों के बीच 'गाँधी विचार अभियान' चला रहे हैं। मुजफ्फरपुर में राष्ट्र सेवा दल, गाँधी शांति प्रतिष्ठान, समाजवादी जनपरिषद, भारत–तिब्बत मैत्री संघ, सर्वोदय समाज, पीयूसीएल, और आचार्य नरेंद्रदेव अध्ययन केंद्र की गतिविधियों के केंद्र में उदय बाबू ही रहे हैं।

उदय बाबू द्वारा स्थापित पुस्तकालय का नाम 'विश्वविभूति पुस्तकालय' है। 13 अक्टूबर को प्रसिद्ध समाज शास्त्री प्रो0 आनंद कुमार ने पुस्तकालय का उद्घाटन किया। पिछले साल 24 अप्रैल को सच्चिदानंद सिन्हा ने पुस्तकालय के भवन का शिलान्यास किया था। पुस्तकालय एक ट्रस्ट (मुंद्रिका देवी रामकृष्ण चैरिटेबल ट्रस्ट) द्वारा संचालित होगा। ट्रस्ट के उद्देश्य हैं – पुस्तकालय को गाँधीवादी और समाजवादी विचारधारा का एक केंद्र बनाना ; समता आधारित सेकुलर समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करना; लोकतांत्रिक समाजवाद के विचार को खासकर भारतीय चिंतकों के संदर्भ में आगे बढ़ाना; सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों के खिलाफ समाज को जागरूक बनाना; व्यक्तिवादी मूल्यों और समाज की कीमत पर केरियरवाद के खिलाफ युवाओं को सचेत करना; सेमिनार और व्याख्यानों का आयोजन करना, तकनीक और उद्योग के बारे में वैकल्पिक सोच को विकसित करना तथा पारिस्थितिकी व पर्यावरण की संकटापन्न स्थिति के बारे में चेतना पैदा करना।

उद्घाटन समारोह में सच्चिदानंद सिन्हा, बिहार की पूर्व मंत्री परवीन अमाउल्लाह, पीयूसीएल के राष्ट्रीय अध्यक्ष प्रभाकर सिन्हा उपस्थित थे। समारोह की सभा का संचालन ट्रस्ट के सचिव शाहिद कमाल ने किया और अंत में धन्यवाद ज्ञापन ट्रस्टी रमेश ने।

■

अगला अंक अशोक सेकसरिया पर

सामयिक वार्ता का अगला अंक साथी अशोक सेकसरिया पर केन्द्रित होगा। अलका सरावगी ने इस अंक का अतिथि सम्पादक होना स्वीकार किया है। सेकसरिया जी से जुड़े संस्मरण, स्मृतियाँ, छायाचित्र, रेखाचित्र और वैचारिक लेख सादर आमंत्रित हैं। यदि आपके पास उनकी वीडियो रिकार्डिंग या उनकी प्रकाशित/अप्रकाशित रचनाएँ उपलब्ध हों तो सम्पादकीय पते पर हमें भेजें। हम उनका यथासम्भव उपयोग करेंगे।

कोलगेट कांड अर्थात सरकारी खानों की रेवड़ियां

जवाहर गोयल

वे एक आत्मीय व्यक्ति थे, पुराने परिचित; अच्छे पढ़े–लिखे ,पर अवकाशप्राप्त। उन्होंने पूछा कि ये कोलगेट कांड क्या है। अख़बारों में फॉलो किया पर पूरा समझ में नहीं आया। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। कोई भी घोटाला हो या ऐसी कोई खबर, उसकी ऊपरी जानकारियां ही अधिक मोहती हैं। फिर यूपीए सरकार ने आम जनता को गुमराह करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। उसके वित्तमंत्री चिदंबरम ने तो संसद में यह तक कह दिया कि कोयला खदानें जहाँ की तहाँ हैं, उनका कोयला भी निकाला नहीं गया है, तो इसमें सरकार के नुकसान का सवाल ही नहीं उठता। उन्होंने कैग (सीएजी अर्थात कंट्रोलर एंड आडिटर जनरल, जो ऑडिट करने की संवैधानिक एजेंसी है) के आरोप को बेबुनियाद बताया। चिदंबरम का तर्क यह था। अगर चोर ने मेरी पेटी चुरा कर उस पर अपनी मिल्कियत बना ली है किन्तु अभी पेटी का ताला नहीं तोड़ा है तो इसमें मेरा नुकसान कहां हुआ !

न्याय प्रक्रिया में यह अनिवार्य होता है कि सच प्रामाणिक और प्रमाणित दोनों हो, भले ही दूसरों को वह बाहर से सीधा और स्पष्ट दिखता हो। इसीलिए बहस की प्रक्रिया तकनिकी बारीकियों में फंसती चली गयी। उसी अनुपात में क्लिष्ट भी होती गयी। कोलगेट कांड को समझने के लिए कुछ मूल बातों को जानना अनिवार्य है। संविधान और कानून के अनुसार जमीन के भीतर की सारी प्राकृतिक सम्पदा राष्ट्र की सम्पत्ति होती है, भले ही जमीन का पट्टा किसी के नाम हो। इस तरह जमीन के भीतर का तमाम कोयला राष्ट्रीय सम्पत्ति है। सन सत्तर के आरंभिक वर्षों में कोयला उत्खनन का राष्ट्रीयकरण किया गया था क्योंकि आजादी के छब्बीस साल बाद भी निजी क्षेत्र की कोयला खदानें उत्पादन बढ़ाने में असफल रहीं थीं और खान मालिक मजदूरों का घोर शोषण कर रहे थे। आज भारत कोयला उत्पादन में विश्व का तीसरा सबसे प्रमुख देश है। भारतीय कोयले का दाम सबसे कम है। बिजली , लोहा, सीमेंट आदि बनाने के लिए बड़ी मात्रा में कोयला जरूरी होता है, इनके दाम भी कोयले के दाम पर निर्भर करते हैं। इन वस्तुओं की मांग बहुत है और तेजी से बढ़ती जाएगी।

विगत चार दशकों में कोल इण्डिया लिमिटेड (सरकारी कंपनी) न केवल तेजी से अपना उत्पादन बढ़ाती रही है, बल्कि आज भी वह विश्व–बाजार से सस्ते दामों में कोयला दे रही है। इसके विपरीत निजी क्षेत्र की खदानें राष्ट्रीयकरण के पहले और उदारीकरण के बाद दोनों ही अवसरों पर, अपने लक्ष्य को पाने में बुरी तरह असफल रही हैं। इस तरह कोयले के उत्पादन में निजीकरण का कोई भी प्रयास हमें अच्छे संकेत नहीं देता।

नब्बे के दशक में जब प्रधानमंत्री नरसिम्हाराव ने वैश्वीकरण की नीति के तहत 'उदारीकरण' शुरू किया तब कोयले के राष्ट्रीयकरण संबंधी अधिनियम में आंशिक संशोधन करके निजी क्षेत्र को अपने उपयोग के लिए खनन करने की इजाजत दे दी गई। इसके बाद टाटा, बिड़ला, रिलायंस, मित्तल, जिंदल आदि औद्योगिक घरानों, एनटीपीसी और विभिन्न राज्यों के बिजली बोर्डों ने केंद्रीय सरकार से आवंटन में कोयला खदाने प्राप्त कीं। नरसिम्हा राव से लेकर मनमोहन सिंह तक की सभी सरकारों ने बिना कोई पारदर्शी नीति बनाए खदानों के आवंटन किए। इसी के सबब

से केंद्रीय कोयला मंत्रालय महत्वपूर्ण होता गया। दिल्ली के महकमों में राजनीतिक दलालों का प्रभाव बढ़ता गया। मनमोहन सिंह ने अपने प्रधानमंत्रित्व काल में कई वर्षों तक कोयला मंत्रालय अपने पास रखा, भले ही बीच–बीच में उनके नीचे राज्य मंत्री भी नियुक्त हुए।

2004 में कोयला सचिव पी.सी. पारेख ने प्रधान मंत्री को लिखित प्रस्ताव भेजा कि खदानों के पारदर्शी आवंटन के लिए इ–ऑक्शन नीति को लागू किया जाए, जिससे खुली स्पर्धा के जरिए बाजार में खानों का उचित मूल्य प्राप्त किया जा सके । प्रधानमंत्री ने जो उस वक्त स्वयं कोयला मंत्री भी थे , इस प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे दी। फिर इसे कानून मंत्रालय को जाँच करने के लिए भेज दिया कि क्या इसे लागू करने के लिए कोई नया कानून बनाने की जरूरत है। सलाह मिली कि वर्तमान कानून को बदले बिना केवल प्रशासनिक आदेश के जरिए ऐसा किया जा सकता है। किन्तु 2006 तक इस पर कानूनी खिचड़ी पकाई गयी और मसले को लटकाए रखा गया। नीति निर्धारण का कोई आदेश नहीं दिया गया। प्रस्ताव ठंडे बस्ते में ही रहा। बरसों तक इसे लागू नहीं किया गया। लेकिन इस दौरान खानों के वितरण का काम अप्रत्याशित रूप से तेज कर दिया गया। 1993 से 2005 तक चार सरकारों द्वारा लगभग सत्तर खदानों को आवंटित किया गया था , लेकिन 2006 से 2010 तक केवल चारेक साल के दौरान यूपीए सरकार ने दो सौ दस से अधिक खदानों का आवंटन किया । इनमें से 142 खदानों को तब आवंटित किया गया जब मनमोहन सिंह स्वयं कोयला मंत्री भी थे। कोयला सचिव पारेख इ–ऑक्शन की नीति लागू करने के लिए पुनर्प्रयास करते रहे , जिसके कारण नाराज होकर एक कोयला मंत्री शिबू सोरेन ने प्रधानमंत्री से उनकी शिकायत कर दी कि कोयला मंत्रालय से उन्हें हटा दिया जाए। तमाम राजनैतिक हस्तक्षेपों से तंग होकर पारेख ने प्रधानमंत्री को अपना इस्तीफा भेज दिया। इस पर प्रधानमंत्री ने उन्हें बुलाकर यह कहकर शांत किया कि आप तो एक विभाग में इन दबावों से परेशान हो गए, सोचिये, मुझे क्या सब नहीं झेलना होता होगा। पारेख साब ने तब इस्तीफे पर जोर दिए बिना कुछ माह में कार्यकाल समाप्त कर विधिवत अवकाश प्राप्त किया और रुखसत हुए।

सरकारी विभागों की आडिट के दौरान कैग ने कोयला विभाग के सचिव पारेख के इ–ऑक्शन वाले नोट पर प्रधानमंत्री की मंजूरी और सरकार के पास बिना क़ानूनी बदलाव के प्रशासनिक आदेश द्वारा इसे लागू करने के अधिकार होने के बावजूद इसे लागू न करने तथा बिना पारदर्शी नीति बनाए सैकड़ों खानो को वितरित किये जाने की गहराई से जाँच की। इसके दौरान कैग ने अनेक अनियमितताओं को पकड़ा। कोयला मंत्रालय में एक संचालन समिति (स्टीयरिंग कमेटी) के माध्यम से खानों के वितरण का काम किया जाता था। कोयला मंत्री की मंजूरी के बाद ही आवंटन का निर्णय होता था। खानों को एकदम मामूली दामों पर निजी क्षेत्रों को बेचा गया था, जबकि सम्पदा के आकलन के आधार पर यह वास्तविक मूल्य का छोटा सा अंश मात्र था। कोई खान किस आवेदक को दी जाएगी, इसे जांचने के लिए कोई पारदर्शी और स्थायी आधार निश्चित नहीं किये गए थे। इसमें कई तरह की मनमर्जी की गई थी। ऐसे अनेकों आवेदकों को खानें दे दी गयी थीं, जिनके अपने बिजली , लोहा , या सीमेंट के उद्योग नहीं थे; इन्होंने आवेदनों में कागज पर फर्जी दावे किये थे। निजी क्षेत्र में खनन की अनुमति केवल इस बहाने से दी गयी थी कि उत्पादन तेजी से बढ जाएगा। किंतु जितनी खदानें आवंटित की गई थीं उनमें से मात्र दस प्रतिशत खदानें ही उत्पादन आरंभ कर पाईं। नए उद्योगों को विकसित करने के दावे फलीभूत नहीं हुए । जिस बड़ी मात्रा में कोयले के संग्रह (डिपाजिट) बाँट दिए गए थे वे निजी क्षेत्र में सौ साल के लिए काफी थे। कई राजनैतिक लोगों के परिवार के लोगों ने भी खदानें पाई थीं। फिर अपने मूल उद्योग को दूसरों को बहुत ऊँचे दामों पर बेच दिया, जिससे खानें भी दूसरे को इस तरह से बेच दी गई कि कुछ किए बिना बड़ा मुनाफा बना लिया गया।

कैग ने मार्च 2012 में इन सारी बातों को प्रकाश में लाते हुए अपनी ड्राफ्ट (मस्विदा) रिपोर्ट में कहा है कि जिस इ–ऑक्शन नीति को प्रधानमंत्री ने मंजूरी दी थी, यदि उसे समय पर लागू कर दिया होता तो शासन को इतनी बड़ी हानि नहीं होती। कैग के अनुमान में यह नुकसान एक लाख छियासी

हजार करोड़ रुपए से कम नहीं था। कैग की ड्राफ्ट रिपोर्ट से यूपीए सरकार बौखला गई। कैग पर लांछन लगाने और उनका मखौल बनाने के कई प्रयास किए गए । किन्तु कैग ने अपनी बात पर कायम रहते हुए अगस्त 2012 में संसद को अपनी अंतिम रिपोर्ट दे दी। विपक्ष की मांग पर इस दौरान सरकार ने सीबीआई की जाँच आरम्भ कर दी थी। इसी दौरान एडवोकेट मनोहर लाल शर्मा ने उच्चतम न्यायालय में एक जनहित याचिका दायर कर खानों के आवंटन को अवैध घोषित करने और ख़ारिज करने की मांग की। प्रशांतभूषण ने भी इसी में अपनी याचिका जोड़ दी और यह मांग की कि सीबीआई की जाँच निष्पक्ष हो इसके लिए जांच उच्चतम न्यायालय के अधीन की जाए। तब तक सीबीआई ने न तो किसी को चार्जशीट दी थी न ही कोई एफआईआर दर्ज किया था। न्यायालय ने सीबीआई को लताड़ा और जाँच को अपने अधीन ले लिया। इन्हीं याचिकाओं पर अंत में निर्णय देते हुए न्यायालय ने आरम्भ से अंत तक आवंटित सारी खदानों के आवंटन को गैरक़ानूनी करार दे कर ख़ारिज कर दिया। केवल ऐसी छह खानों का आवंटन रद्द नहीं किया, जो उत्पादन कर रही थीं और बिजलीघरों को कोयले की आपूर्ति कर रही थीं। साथ ही साथ पारदर्शी एवं सही ढंग से राष्ट्रीय सम्पदा के आवंटन का आदेश भी दिया।

इधर घोटालों की श्रृंखला में कोलगेट कांड से राजनैतिक माहौल गरमाता रहा। उधर यूपीए सरकार अपने कुछ पुराने हथकंडों से बौखलाहट में ऐसे–ऐसे कतरब करती रही, जिससे आम जनता का ध्यान बंटता, मुद्दे धुंधला जाते या किसी तरह की लीपा–पोती संभव होती। कोयला मंत्रालय की ढेरों फाइलों को और स्टीयरिंग कमेटी के अनेकों रेकार्डों को गायब कर दिया गया। प्रधानमंत्री तक ने इस पर अपनी असमर्थता दिखा दी। प्रमाणों को नदारद करने के अलावा अवकाश प्राप्त कोयला सचिव पी. सी.पारेख पर भी जाँच बैठा दी गई, जिनके ई–ऑक्शन प्रस्ताव के आधार पर कैग ने सरकार को दोषी पाया था। पारेख की छवि आरम्भ से ही एक निर्भीक, ईमानदार, कार्यकुशल और साहसी अफसर की थी। बिड़ला के उद्योग हिंडाल्को के लिए खान देने के जिस प्रस्ताव पर उनकी जाँच की जा रही थी, वह प्रधानमंत्री की सिफारिश के साथ कोयला मंत्रालय में पहुंचा था। उस प्रस्ताव का अनुमोदन भी प्रधानमंत्री ने किया था। किन्तु पारेख के चाहने और कहने के वावजूद इस मामले में प्रधानमंत्री की जाँच नहीं की गई।

भ्रमित करने के लिए सरकार ने समय–समय पर कई कुतर्क भी प्रस्तुत किए, जिनमें एक यह था कि खदानों को यदि नीलाम किया जाता तो वे ऊँचे दामों पर बिकतीं, जिससे बिजली का दाम भी बहुत बढ़ जाता। दूसरा यह कि लक्ष्य निजी क्षेत्र के सहयोग से तेजी से उत्पादन बढ़ाना था। किन्तु उत्पादन न कर रही खदानों पर सरकार ने न कोई अंकुश लगाया, न ही उनसे कोई खामियाजा लिया।

न्यायालय के आदेश के बाद अब एनडीए की मौजूदा सरकार ने इ–ऑक्शन के द्वारा खानों की नीलामी करने के लिए अध्यादेश जारी किया है, किन्तु इसमें एक ऐसा प्रावधान भी कर दिया है, जिससे खान मालिक कोयले का व्यावसायिक उपयोग भी कर सकेंगे अर्थात निजी उपयोग के लिए मिली खदानों का कोयला वे दूसरों को भी बेच सकेंगे। इस तरह राष्ट्रीयकरण के सिद्धांत से अब नीति हट जाएगी। कुछ दिनों बाद जब यह अध्यादेश संसद में कानून का रूप लेगा तब ही पूरी स्थिति का खुलासा होगा कि कब, कितना और कैसे निजी क्षेत्र अपने उत्पादित कोयले का व्यावसायिक उपयोग कर सकेंगे।

विगत चार दशकों में कोल इण्डिया लिमिटेड (सरकारी कंपनी) न केवल तेजी से अपना उत्पादन बढ़ाती रही है, बल्कि आज भी वह विश्व–बाजार से सस्ते दामों में कोयला दे रही है। इसके विपरीत निजी क्षेत्र की खदानें राष्ट्रीयकरण के पहले और उदारीकरण के बाद दोनों ही अवसरों पर, अपने लक्ष्य को पाने में बुरी तरह असफल रही हैं। इस तरह कोयले के उत्पादन में निजीकरण का कोई भी प्रयास हमें अच्छे संकेत नहीं देता, कोयले की मांग में तेजी के साथ–साथ इस नीति में प्राकृतिक सम्पदा हथियाने का लालच ही अधिक दिखती है।

■

धर्मनिरपेक्ष पटेल की तलाश

अरुण कुमार त्रिपाठी

पिछले साल के दिसंबर की बात है सरदार वल्लभभाई पटेल की तलाश मुझे एक ऐसे बुकस्टाल पर ले गई, जहां राजमोहन गांधी द्वारा लिखी उनकी जीवनी मिलने की अधिकतम संभावना थी। तलाश पूरी हुई। स्टाल में बैठी महिलाओं ने व्यंग्यात्मक लहजे में पूछा 'पटेल–ए–लाइफ' की कितनी प्रतियाँ चाहिए, एक–दो तीन....। हमलोग आश्चर्यचकित थे। नवजीवन पब्लिशिंग हाउस की यह किताब दिल्ली के बाजार में कहीं थी नहीं और यहां पूछा जा रहा था कि कितनी चाहिए। उन महिलाओं का व्यंग्य यहीं समाप्त नहीं हुआ; ''क्या बात है आजकल कांग्रेस लोगों को पटेल के बारे में जानने को प्रोत्साहित कर रही है, यह प्रायश्चित है या कोई मजबूरी।" उनके इस व्यंग्य के बीच पटेल पर लिखी गई प्रामाणिक जीवनी प्राप्त करने का अपना आनंद था और राजनीतिक चर्चा का मजा भी। पुस्तक केंद्र चला रही महिलाओं का कहना था कि आजकल हर कोई पटेल को पढ़ना चाह रहा है और इसके लिए नरेंद्र मोदी का शुक्रगुजार होना चाहिए। वहां पटेल के निजी सचिव वी शंकर व्दारा संपादित दो खंडों में सरदार पटेल के चुनिंदा पत्राचार के साथ पी एन चोपड़ा और डीवी तहमंकर की पटेल की जीवनियां भी उपलब्ध थीं। पटेल पर लिखी रफीक जकरिया की किताब 'सरदार पटेल एंड इंडियन मुस्लिम्स' कस्तूरबा गांधी मार्ग स्थित भारतीय विद्या भवन से प्राप्त हुई। इस बीच मिर्जापुर से भाजपा सांसद रहे वीरेंद्र सिंह मस्त के भाई मोहन सिंह ने एक दिलचस्प वाकया सुनाया। उनका कहना था कि बनारस के पास सतहरिया में भारतीय जनता पार्टी के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार नरेंद्र मोदी ने सरदार पटेल की विश्व की सबसे ऊंची प्रतिमा बनाने के लिए रैली आयोजित की। उस रैली के लिए किसान अपनी फसल बर्बाद होने देने के लिए तैयार हो गए, लोहा देना तो अलग बात है ही। मालूम हो कि सरदार पटेल की 180 मीटर यानी 597 फुट ऊंची मूर्ति गुजरात के भरूच जिले में सरदार सरोवर बांध के बीच बने एक साधुबेट नामके द्वीप पर स्थापित किए जाने की बात है। इसमें 2500 करोड़ रुपए का खर्च आएगा। यह कहा जा रहा है कि इसके लिए पांच लाख किसान लोहा दे रहे हैं, हालांकि भरुच जिले के केवड़िया, कोठी, बाघोड़िया, लिंबडी, नवागाम और गोरा गांव के लोग इस मूर्ति की स्थापना का विरोध कर रहे हैं क्योंकि इससे उनकी जमीनें छीनी जाएंगी।

ऐसे माहौल में जब एक तरफ हिंदूवादी ताकतें पटेल को अपना प्रतीक पुरुष बनाने और राष्ट्रवाद का नया विमर्श चलाने में पूरा जोर लगा रही हैं तो दूसरी तरफ उन्हें सांप्रदायिक बताने में वामपंथी और समाजवादी ताकतें भी पीछे नहीं हैं। पटेल के नाम पर मची यह खींचतान, जहां सांप्रदायिकता के घेरे को नरम और समावेशी बनाकर उसका विस्तार कर रही है, वहीं धर्मनिरपेक्षता या सर्वधर्म समभाव का दायरा ज्यादा शुद्धतावादी और कठोर बनकर संकुचित होता जा रहा है।

फ्रंटलाइन में एजी नूरानी लिखते हैं कि पटेल अपने नजरिए में बेहद सांप्रदायिक थे जबकि नेहरू धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद के प्रतीक थे। यही वह वजह है जिसके कारण संघ परिवार एक की पूजा करता है और दूसरे से नफरत। भारतीय राष्ट्रवादियों से अलग स्वयंभू हिंदू राष्ट्रवादियों का एक गोपनीय समूह सरदार पटेल की इसलिए प्रशंसा करता है क्योंकि वह उनमें एक समानधर्मा व्यक्ति देखता है। पटेल अपने को गौरवान्वित नहीं करते, पर खास बात यह है कि उन्हें हमेशा नेहरू के खिलाफ खड़ा किया जाता है। नूरानी जयप्रकाश नारायण की एक टिप्पणी के हवाले से पटेल को गांधी की हत्या के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं; 28 फरवरी, 1948 में बांबे क्रानिकल में छपे जेपी के एक बयान में कहा गया था– ''मैं ऐसे व्यक्ति को गृह विभाग का प्रभारी देखना चाहता था, जो सांप्रदायिकता से मुक्त हो।" बाद में गांधी हत्या की साजिश की जांच करने वाले न्यायमूर्ति जे.एल. कपूर आयोग की रपट में जेपी

के बयानों का जिस तरह से जिक्र किया गया उसे भी नूरानी पटेल को सांप्रदायिक साबित करने के लिए इस्तेमाल करते हैं। जेएल कपूर की रपट में कहा गया है कि 18 फरवरी 1948 को टाइम्स आफ इंडिया ने जेपी के हवाले से यह खबर छापी कि 'लोगों को मेरे उस अभियान पर अविश्वास नहीं करना चाहिए जो मैंने केंद्रीय प्रशासन की तरफ ध्यान खींचने के लिए चलाया।' जेपी ने कहा– ''मुझे महात्मा गांधी की हत्या की स्थितियां पैदा करनेवाली घटनाओं की आलोचना से कोई निजी फायदा नहीं होनेवाला है। मैं भाग्य में विश्वास करनेवाला नहीं हूं और मुझे यकीन है कि अगर कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की रैलियों को संरक्षण नहीं दिया होता और उनमें हिस्सेदारी न की होती, देश के युवाओं को उसमें हिस्सेदारी के प्रति आगाह किया होता और उनकी ऊर्जा के लिए उपयुक्त अवसर दिया होता तो इस समय जब महात्मा गांधी की हमें सबसे ज्यादा जरूरत थी वे हमसे छीने न गए होते।"

जिन जयप्रकाश नारायण ने पटेल पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिंदू महासभा को प्रोत्साहित करने और गांधी की हत्या का माहौल बनाने का दोषी बताया और उस पर पाबंदी लगाने की मांग की, उन्होंने ही 1974 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को संपूर्ण क्रांति आंदोलन में शामिल किया और संघ के शिविर में जाकर कहा कि अगर संघ सांप्रदायिक है तो वे भी सांप्रदायिक हैं। जबकि हकीकत यह है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को कांग्रेस में शामिल होने की सलाह देने वाले सरदार पटेल ने गांधी की हत्या के बाद इस संगठन पर पाबंदी भी लगाई थी। पटेल समय–समय पर गांधी को जिस तरह से याद करते हैं और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को उनकी हत्या के लिए जिम्मेदार बताते हैं उससे एक अलग ही अर्थ निकलता है। हिंदुस्तान टाइम्स में दिए एक बयान में वे महात्मा गांधी की हत्या को कभी न मिटनेवाला धब्बा बताते हैं और कहते हैं कि इससे हमारी नाकामी साबित होती है। पटेल नवंबर 1948 में बनारस में कहते हैं– हम (उस घटना को या उन्हें) कभी भूल नहीं पाएंगे और न ही अपने को माफ कर पाएंगे। हमें हमेशा यह याद रहेगा कि यह हमारा ही गुमराह युवक था जिसने उस घटना को अंजाम दिया। इसके बाद पटेल गांधी को उनके व्यक्तित्व का निर्माण करने और देश की आजादी का श्रेय देते हुए कहते हैं ''मैं गांधी का आज्ञाकारी सिपाही था। उनकी तपस्या से हमें आजादी मिली। मैं उनका अनुसरण करता था क्योंकि हमारी प्रतिबद्धताएं मिलती थीं।" तीन महीने बाद पटेल ने कहा कि आखिरी मुलाकात के दौरान चरखा चलाते हुए उनका (गांधी का)चित्र आज भी सदैव हमारे सामने अंकित रहता है। 15 अगस्त 1949 को सरदार पटेल ने अपने संदेश में कांग्रेसियों की ताजा खींचतान का जिक्र करते हुए कहा कि (गांधी के) जादुई असर के चलते हमारे भीतर जो संतुलन और पवित्रता थी उस ऊंचाई से हम नीचे गिर गए हैं। ऐसे मौके पर हमारे मानस में एक ही विचार आता है ''काश, बापू ऐसे मौके पर आज होते।" पंद्रह अगस्त को दिए गए इस बयान के नौ महीने बाद पटेल ने फिर कहा कि उस भयानक त्रासदी के कारण हमारा सिर हमेशा शर्म से झुका रहेगा।

यह सही है कि पटेल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रति उतने कटु नहीं थे जितने नेहरू और यही वजह है कि संघ उन्हें खींचकर अपने पाले में करना चाहता है। पर हमें यह भी मानना होगा कि पटेल ने न तो कभी हिंदू राष्ट्र का समर्थन किया और न ही गांधी के रास्ते से एक सीमा से ज्यादा विचलित हुए। पटेल ने नेहरू से असहमत होने के बावजूद गांधी को दिए वचन के कारण तमाम नाजुक मौकों पर उनका साथ नहीं छोड़ा। यही बात नेहरू के बारे में भी कही जाती है। गांधी की हत्या के बाद पटेल और नेहरू के बीच जो एकता बनी वह उनके बीच शत्रुता के राष्ट्रीय स्वयं सेवकसंघ के प्रचार को खारिज कर देती है। पटेल के लिए जहां गांधी का हत्यारा हमारे बीच का ही एक था वहीं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी अपने भाइयों में एक था। इसके बावजूद पटेल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के गोपनीय तरीकों के खिलाफ थे और उन्होंने साफ शब्दों में कहा था कि भारत के भीतर एक निजी सेना बनाने की इजाजत नहीं दी जा सकती।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को लेकर पटेल और नेहरू के बीच मतभेद और पत्राचार का विस्तृत वर्णन राजमोहनगांधी, पटेल की जीवनी में करते हैं। नेहरू के लिए संघ के कार्यकर्ता उनके सहोदर नहीं थे। पटेल के बयान पर नेहरू ने उन्हें पत्र लिखकर आगाह किया था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की एक निश्चित विचारधारा है, जो सरकार और कांग्रेस के खिलाफ है।

वे निश्चित तौर पर धर्मनिरपेक्ष राज्य के विचार के खिलाफ हैं। अगर इस मौके पर हमने संघ से पाबंदी उठा ली और दूसरे संगठनों पर उसे जारी रखा तो उसका अर्थ यह लिया जाएगा कि हम भारत में फासीवादी तत्वों को बढ़ावा दे रहे हैं। पटेल, नेहरू की तरह विचारधारात्मक आधार पर अपने फैसले नहीं करते थे, उनके लिए व्यावहारिक स्थितियां ज्यादा महत्व रखती थीं। इसके बावजूद उनकी नजर में हिंदू राष्ट्र का विचार एक पागलपन का विचार था और मुसलमानों व गैरमुसलमानों का कत्लेआम भारत के इतिहास का सबसे काला अध्याय था। उन्होंने इस बात की भी अपील की थी कि हर वफादार मुसलमान से एक भाई के तौर पर व्यवहार किया जाना चाहिए। लेकिन वे एक व्यावहारिक राजनेता थे। उन्होंने नेहरू को समझाया कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हजारों कार्यकर्ताओं पर कोई मुकदमा चलाए बिना उनके संगठन पर अनिश्चित काल तक पाबंदी नहीं लगाए रखी जा सकती। इसलिए जिस पटेल ने गांधी की हत्या के बाद संघ पर पाबंदी लगाई थी उन्होंने ही नेहरू की सहमति से उस पर से जुलाई 1949 में पाबंदी उठा ली। लेकिन इससे पहले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख ने सरदार की यह शर्तें मान ली थीं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक लिखित और प्रकाशित संविधान स्वीकार करेगा, अपने को सांस्कृतिक कामों तक सीमित करेगा, हिंसा और गोपनीयता त्याग देगा, भारत के संविधान और झंडे के प्रति वफादारी दिखाएगा और एक लोकतांत्रिक संगठन में परिवर्तित होगा।

पटेल की सांप्रदायिक छवि बनाने में जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया व मीनू मसानी जैसे समाजवादी नेताओं और वामपंथियों का तो योगदान है ही लेकिन मौलाना अबुल कलाम आजाद का विशेष योगदान है। इसका मतलब यह नहीं कि सांप्रदायिक समस्या से जूझ रहे देश की स्थिति के बारे में पटेल की प्रतिक्रिया वैसी ही होती थी जैसी कि गांधी और नेहरू की। पटेल विभाजन और दंगों से बेहद विचलित थे और हिंदुओं की विशेष चिंता भी करते थे। लेकिन गांधी और नेहरू के बीच फंसे उतने सांप्रदायिक हो नहीं सकते थे जितना उन्हें तमाम विश्लेषकों ने पेश करने की कोशिश की है। डॉ. लोहिया ने मौलाना आजाद की किताब 'इंडिया विन्स फ्रीडम' की लंबी समीक्षा करते हुए मौलाना के ईर्ष्या भाव की तरफ बार–बार संकेत किया है। हालांकि लोहिया की इस समीक्षा में यह भी दिखाई पड़ता है कि उस समय के नेता एक दूसरे के बारे में क्या सोचते थे। शायद यह भारत विभाजन जैसे वज्रपात जैसी घटना का असर था कि सभी एक दूसरे को संदेह की निगाह से देखने लगे थे।

'भारत विभाजन के गुनहगार' में लोहिया लिखते हैं कि मौलाना ने पूरी ताकत से अपने संपूर्ण विद्वेष को सरदार पटेल पर उड़ेल दिया है। यह बिल्कुल स्वाभाविक था। सरदार पटेल अपने राजनीतिक उद्देश्यों में जितने असंदिग्ध हिंदू थे, मौलाना आजाद उतने ही मुसलमान। आजाद और पटेल का आपसी कलह उनके सहकर्मियों के सामान्य आपसी रिश्तों के अनुरूप ही था। कोई एक दूसरे की उन्नति नहीं देखना चाहता था। सभी में तिरस्कृत होने पर प्रतिशोध की भावना आ जाती है। इसके बाद लोहिया पटेल को छोटा बताने के लिए एक और टिप्पणी करते हैं कि अपने विरोधियों के प्रति पटेल अत्यंत व्यक्तिवादी, खूब तिकड़मी और क्षुद्र रूप में प्रतिहिंसात्मक हो सकते थे। इस बात को बताने के लिए आजाद को गलतबयानी करने की जरूरत नहीं थी। पटेल के नेतृत्व में गुजराती कांग्रेसियों की भीरुता, दब्बूपन और मिडिलचीपन इस बात का निर्णायक सबूत है।

लोहिया का विश्लेषण एक मायने में दिलचस्प है। आजाद बनाम पटेल के विवाद में वे एक हद तक तटस्थता बरतते हैं लेकिन जैसे ही यह विवाद पटेल बनाम नेहरू का होता है तो वे पटेल के पक्ष में खड़े दिखते हैं। लोहिया लिखते हैं कि पटेल के विरुद्ध जो सबसे बड़ा झूठ कहा जाता है, उसका जिक्र कर देना आवश्यक है। गांधी ने पटेल को कांग्रेस अध्यक्ष की गद्दी नहीं दी थी, वास्तव में पिछले वर्ष (1946) ही उन्होंने यह गद्दी उनको नहीं मिलने दी थी। लाहौर कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए भी पटेल ने नेहरू से अधिक वोट पाए थे, पर गांधी ने उन्हें अपना नाम वापस लेने पर विवश कर दिया था। विशेषकर निज के पद और पसंदगी के मामले में कहां गांधीजी मानते थे और कहां दबाते थे, इसका निर्णय करना कठिन है।

शायद नेहरू से लोहिया की नाराजगी ही प्रमुख कारण है, जिसके चलते उन्हें पटेल का राजनीतिक कौशल, साहस और व्यावहारिकता दिखाई पड़ती है।

इसीलिए वे उनकी आलोचनात्मक प्रशंसा करते हैं। लोहिया लिखते हैं कि एक बात और बताए बिना मैं पटेल कांड को समाप्त करना नहीं चाहूंगा। पटेल संभवतः उतने ही छोटे, व्यक्तिवादी और प्रतिहिंसात्मक थे, जितने कि आजाद या नेहरू, लेकिन वे इनसे कहीं बेहतर धातु के बने थे। कौशल के क्षेत्र में उनके विस्तार का कोई मुकाबला न था। जहां उनका तुच्छ स्व न जुड़ा होता वे संपूर्ण कौशल और साहस के साथ काम करते थे, जैसा कि उन्होंने देशी राज्यों के मामले में कर दिखाया। दूसरे ही क्षण जब लोहिया को लगता है कि पटेल की ज्यादा तारीफ हो रही है तो वे उनके काम को बड़ा बताने से पहले ठिठक जाते हैं लेकिन जैसे ही उन्हें आजाद और नेहरू की याद आती है वे फिर पटेल को भारी बताने लगते हैं। देशी रियासतों के एकीकरण के बारे में लोहिया लिखते हैं कि अपने आप में यह काम उतना उल्लेखनीय न था। उनकी टक्कर किसी खास चीज से नहीं हुई। रजवाड़े पतित थे। 'लेकिन जब मैं सरदार पटेल को छोड़कर कांग्रेस के बांझ नेतृत्व के बारे में सोचता हूं तो निश्चय ही मैं यह नहीं समझता कि नेहरू या आजाद इस काम को कभी कर पाते।' लोहिया फिर एक विडंबनापूर्ण वाक्य में पटेल, की तारीफ करते हुए नेहरू और आजाद के साथ उन्हें निपटा देते हैं और कहते हैं कि अपने सहकर्मियों के बौनेपन के कारण पटेल इतने अतुलनीय और लंबे लगते थे, अपनी उपलब्धियों के लिए नहीं, जो कठिन या असाध्य नहीं थी।

पटेल साम्यवादियों और समाजवादियों के निशाने पर लगातार रहे। हालांकि समाजवादी उनकी देशभक्ति की तारीफ करते थे। समाजवादी नेता अशोक मेहता ने भी माना कि सरदार ने स्वाधीनता संग्राम और देश के एकीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और वे उस धातु के बने हुए हैं जिससे इतिहास बनता है। इसके बावजूद अशोक मेहता लिखते हैं कि सरदार की आर्थिक नीतियों की वजह से देश आर्थिक तबाही की ओर जा रहा है। बिड़ला की मधुमक्खियों और डालमिया की गायोँ की देखभाल के कारण इस देश की भूखों मरती जनता को न तो शहद मिला है न ही दूध हासिल हुआ है। सरदार के पूंजीवादी मित्र और सलाहकार उन्हें गलत रास्ते पर ले जा रहे हैं। हमें दिग्गज (आर्थिक क्षेत्र के) चाहिए लेकिन वे लोग न तो सत्ता पक्ष की सीटों पर बैठे होने चाहिए न ही सरदार की सुबह की सैर में उनके इर्द गिर्द मंडराने चाहिए। इसी रौ में 1948 में कांग्रेस समर्थित ट्रेड यूनियन इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस यानी इंटक के गठन पर टिप्पणी करते हुए अशोक मेहता कहते हैं कि यह कांग्रेसियों के 'कॉकस' की तरफ से गठित यूनियन है। इसे मालिक और नियोक्ता पोषित करते हैं। इस तरह वर्ग सहयोग की सरदार की अवधारणा साकार हो गई है। वे सरदार की इस धारणा पर भी यकीन नहीं करते कि लड़ाई छेड़ने से पहले यूनियन मध्यस्थता की शरण ले।

सरदार के निधन के काफी बाद अस्सी के दशक में अशोक मेहता ने उनके बारे में अपने विचार बदले और लिखा कि सरदार राजकुमारों के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने बहुत अच्छी शर्तें रखीं और समस्या का हल निकाल दिया। वे जमींदारों का समर्थन भी नहीं कर सकते थे क्योंकि वे स्वयं मेहनती किसान तबके से संबंधित थे। जहां तक पूंजीपतियों की बात है तो वे मानते थे कि उनकी जरूरत है। वे मानते थे कि वे उनको और उनके मुनाफे को व्यापक हित में नियंत्रित कर सकते हैं। अगर हम उन अतीत के वर्षों में झांकेंगे तो पाएंगे कि उनकी बात जायज थी। उस दौर का सवाल यह था कि भारत बचेगा या नष्ट हो जाएगा ; ''मैं समझता हूं कि हम विशेषकर मैं उस समय की स्थितियों को समझने में विफल रहा।''

सरदार पटेल ने खिलाफत आंदोलन और किसान आंदोलन में बढ़चढ़कर हिस्सा लिया था। समाजवादी भारत छोड़ो आंदोलन के सबसे सक्रिय नायकों में थे। ऐसे में सरदार ने उस दौर में समाजवादियों से बनी मित्रता को आगे बढ़ाना चाहा। सरदार ने जयप्रकाश नारायण से सितबंर 1947 में कहा कि अगर वे किसी विशेष कार्यक्रम को चलाना चाहते हैं तो उसके बारे में सरकार को बताएं। इस प्रस्ताव को गंभीरता से लेते हुए जेपी और उनके समाजवादी मित्रों ने सरदार के सामने एक दस्तावेज पेश किया। पर सरदार ने उसे अव्यावहारिक माना। उस समय समाजवादियों की बड़ी तीखी प्रतिक्रिया थी। मीनू मसानी ने लिखा कि सरदार गैरबौद्धिक व्यक्ति हैं। हालांकि सरदार के निधन के बाद जेपी ने माना कि वे सुझाव काफी कुछ किताबी समाजवाद पर आधारित थे। दरअसल पटेल के बयानों और उनके कदमों को

देखकर लगता है कि वे अपने बयानों में जितने कठोर और उग्र दिखते हैं अपने व्यवहार में उतने ही संतुलित थे। वे देश की सांप्रदायिक स्थितियां देखकर मुसलमानों पर संदेह करते हैं लेकिन गांधी और नेहरू के बीच एक महत्वपूर्ण स्तंभ के रूप में स्थित होने के कारण वे किसी तरफ बहुत ज्यादा झुक नहीं सकते थे। जब तक गांधी जीवित थे तब तक वे उन्हें संभालते रहे और फिर जब वे नहीं रहे तो नेहरू और पटेल मिलकर भारत की धर्मनिरपेक्षता को सैद्धांतिक और व्यावहारिक आकार देते रहे। सरदार की सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे जबान के कठोर थे और अपने गुस्से को छुपा नहीं पाते थे। उनकी दूसरी दिक्कत यह थी कि वे सैद्धांतिक विमर्शों में उतने निष्णात नहीं थे जितने नेहरू और गांधी या स्वाधीनता संग्राम के समाजवादी और साम्यवादी नेता। इस नाते पटेल धर्मनिरपेक्षता के विमर्श में मात खाते रहे हैं। इसके बावजूद पटेल के जीवन में और उनकी व्यावहारिक राजनीति में ऐसा बहुत कुछ है जो भारत की धर्मनिरपेक्षता को मजबूत करता है और उसे उन लोगों से लड़ने की ताकत भी देता है जो इस देश को तोड़ने और कमजोर करने में लगे रहते हैं।

डॉ. रफीक जकरिया अपनी पुस्तक 'सरदार पटेल एंड मुस्लिम्स' में तमाम ऐसे प्रसंगों का जिक्र करते हैं जिनके कारण पटेल की धर्मनिरपेक्षता चट्टान की तरह अडिग दिखती है और उसी के साथ तमाम ऐसे भी प्रसंग हैं जहां वह बर्फ की तरह पिघलती सी लगती है। पटेल ने जनवरी 1948 में लखनऊ में एक ऐसा भाषण दिया जिसके कारण मुस्लिम समुदाय में जबरदस्त बावेला मचा। पटेल के इस भाषण पर तमाम राष्ट्रवादी मुसलमानों ने गांधी से शिकायत की कि इसके परिणाम बहुत बुरे होंगे क्योंकि वह भाषण किसी और ने नहीं बल्कि देश के सबसे शक्तिशाली गृहमंत्री ने दिया है। जकरिया बताते हैं कि पटेल का वह भाषण दिसंबर 1947 में लखनऊ में हुए एक मुस्लिम सम्मेलन में दिए गए भाषणों का जवाब था। उस सम्मेलन में करीब एक लाख मुसलमान शामिल हुए थे। इसमें मौलाना आजाद जैसे कई राष्ट्रवादी मुसलमान नेता आमंत्रित थे। सम्मेलन में भारतीय मुसलमानों से भेदभाव को लेकर सरकारी नीतियों की कड़ी आलोचना की गई थी। स्टेट्समैन के संवाददाता ने लिखा था कि इसमें से कुछ भाषण तो शरारतपूर्ण और तूफान उठानेवाले थे। आश्चर्यजनक तौर पर उनका ढर्रा बनाने में डॉ. सैयद महमूद का महत्वपूर्ण योगदान था। सैयद महमूद कांग्रेसी नेता थे और एक राष्ट्रवादी होने के नाते वे मुस्लिम लीग की नीतियों का विरोध करने वाले थे। इसी तरह मौलाना हिफजुर्रहमान का, जो जमीयतुल–उलेमा–ए–हिंद के महत्वपूर्ण नेता थे और कांग्रेस के साथ हमेशा रहे, भाषण निश्चित तौर पर उत्तेजक था। लेकिन सरदार ने उतनी ही कठोर प्रतिक्रिया जताकर ज्यादा विवाद मोल ले लिया। सरदार ने अपने भाषण में पहले तो कहा कि वे मुसलमानों के सच्चे दोस्त हैं लेकिन बाद में बरस पड़े। उन्होंने कहा "मैं आप को स्पष्ट तौर पर बता देना चाहता हूं कि इस नाजुक मौके पर भारतीय संघ के प्रति वफादारी की घोषणा से काम नहीं चलनेवाला है। आप को अपनी घोषणा का व्यावहारिक प्रमाण देना होगा। मैं आप से पूछना चाहता हूं कि आपने पाकिस्तानी साजिश से हुए कबाइली हमले की भर्त्सना क्यों नहीं की?क्या भारत पर होने वाले हर बाहरी आक्रमण की हर कार्रवाई की आलोचना करना आपका कर्तव्य नहीं है?इसी के साथ उन्होंने यह भी सवाल किया कि अपने सम्मेलन में उन्होंने कश्मीर पर मुंह क्यों नहीं खोला।"

रफीक जकरिया लिखते हैं कि सरदार ने कुछ गलत नहीं कहा बल्कि वही बातें कहीं जो कुछ समय पहले मौलाना आजाद ने दिल्ली में मुसलमानों से कही थीं। लेकिन सरदार की कड़वी जुबान मुसलमान नेताओं को अखर गई। उनका भाषण एक राजनीतिज्ञ नहीं एक वकील के जैसा था। पटेल यहीं नहीं रुके, उन्होंने आगे कहा 'जो पाकिस्तान जाना चाहते हैं वे वहां चले जाएं और शांति से रहें। वे हमें यहां शांति से रहने दें और अपने लिए काम करने दें।" पटेल ने लखनऊ में यह भी कहा "आप अपनी अलगाववादी मानसिकता मिटाकर हिंदुओं और अन्य लोगों के साथ उसी एक नाव में सफर करने और डूबने या पार जाने को तैयार हो जाएं। मैं आप को स्पष्ट कहना चाहता हूं कि आप दो घोड़ों की सवारी एक साथ नहीं कर सकते। आप एक घोड़े को चुनिए जो आप को सबसे अच्छा लगे।" सरदार के इस भाषण से तूफान खड़ा हो गया। आजाद नाराज हो गए, नेहरू विचलित हो गए और गांधी को अपने प्रिय शिष्य को पथभ्रष्ट होते देखकर काफी दुख हुआ। इन बिगड़ती स्थितियों के

प्रति गांधी पहले से परेशान थे और उन्होंने लखनऊ भाषण से पहले पटेल को पत्र लिखा था, ''मैने आप के बारे में काफी शिकायतें सुनी हैं। आपके भाषण भड़काऊ हैं और श्रोताओं को खुश करने के लिए हैं। आप हिंसा और अहिंसा में कोई फर्क नहीं करते। आप लोगों को तलवार का जवाब तलवार से देने की शिक्षा दे रहे हैं। अगर यह सही है तो यह बहुत नुकसानदेह है।"

विभाजन के बाद सांप्रदायिक माहौल की हवा में बहते अपने प्रिय शिष्य पटेल को देखकर गांधी बहुत विचलित हो गए थे। इन्हीं स्थितियों में उन्होंने अपने आखिरी और सबसे सशक्त हथियार आमरण अनशन का इस्तेमाल किया। गांधी चाहते थे कि देश में अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसा बंद हो और पाकिस्तान को उसके हिस्से के तौर पर 55 करोड़ रुपए नकद दिए जाएं। पटेल का कहना था कि पाकिस्तान इस राशि का इस्तेमाल भारत के खिलाफ करेगा इसलिए मंत्रिमंडल ने उसे न देने का फैसला किया है। इसी तरह सरदार को गांधी का कलकत्ता अभियान भी नहीं जंचा था क्योंकि उन्होंने वहां शहीद सुहरावर्दी के साथ मिलकर शांति कायम की थी, जिन्होंने जिन्ना की सीधी कार्रवाई की अपील पर कलकत्ता में भारी हिंसा करवाई थी। इस दौरान पटेल के रवैए पर नेहरू और आजाद दुखी थे और वे लगातार गांधी से शिकायत भी कर रहे थे। गांधी ने इन तमाम स्थितियों पर अपना नियंत्रण कायम करने के लिए अनशन शुरू किया और तमाम लोगों ने उस अनशन को सीधे पटेल के खिलाफ माना। हालांकि गांधी से तमाम लोगों ने इस अवस्था में अनशन करने से मना किया था पर वे मानने वाले नहीं थे। पटेल अनशन से बहुत परेशान हुए लेकिन जैसा कि प्रचार किया गया कि पटेल चाहते थे कि महात्मा गांधी अनशन करके समाप्त हो जाएं और उनके रास्ते का कांटा हटे, वैसा कुछ बिंदु मात्र भी नहीं था। सरदार ने गांधी को पत्र लिखकर उनसे अनुरोध भी किया कि उन्हें मंत्रिमंडल की जिम्मेदारियों से मुक्त कर दें। गांधी के निजी सचिव प्यारेलाल ने पूर्णाहुति में पटेल के उस पत्र का जिक्र किया है जो उन्होंने इस बावत अनशन कर रहे गांधी को लिखा था– ''मुझे सुबह सात बजे आपको छोड़कर काठियावाड़ जाना है। यह मेरे लिए असहनीय कष्ट का विषय है कि जब आप उपवास कर रहे हैं तो आपको छोड़कर मैं दूर जा रहा हूं। लेकिन कठिन कर्तव्य के कारण मेरे पास कोई और विकल्प बचा नहीं है। कल आप की नाराजगी देखकर मैं विचलित हो गया। उसके कारण मैं तेजी से सोच रहा हूं। मुझ पर काम का बोझ इतना ज्यादा हो गया है कि मैं उसके नीचे दब गया हूं। मैं सोचता हूं कि इस स्थिति में और काम करते रहने से न तो मुझे फायदा होगा न ही देश को। बल्कि इससे नुकसान भी होगा। जवाहर तो मुझसे भी ज्यादा काम के दबाव में हैं। उनका हृदय भी दुख से भरा हुआ है। हो सकता है कि उम्र के साथ मेरी क्षमता घट गई हो और मैं उनके साथ खड़े होनेवाले और उनका बोझ हल्का करनेवाले साथी के तौर पर न बचा हूं। मैं जो कर रहा हूं उससे मौलाना भी नाराज हैं और आप को बार–बार मेरे बचाव का बीड़ा उठाना पड़ता है। मेरे लिए यह भी नाकाबिलेबर्दाश्त है। इन स्थितियों में मेरे और देश के लिए यह अच्छा होगा अगर आप मुझे मुक्त कर दें। मैं जैसा कर रहा हूं उससे अलग मैं कर नहीं सकता। और ऐसा करते हुए अगर मैं अपने आजीवन साथी रहे लोगों पर भार बन जाऊं और आप के लिए तनाव का कारण बनूं, उसके बाद अपने पद से चिपका रहूं तो इसका मतलब है कि कम से कम मैं ऐसा महसूस करता हूं–––कि मैं सत्ता की भूख से अंधा हो गया हूं और सत्ता से हटने के लिए तैयार नहीं हूं। आप इस असहनीय स्थिति से मुझे तत्काल मुक्त करें। मैं जानता हूं कि जब आप उपवास कर रहे हों तो यह बहस का मौका नहीं है पर चूंकि मैं उपवास समाप्त करने में सहायक नहीं हो सकता तो मैं नहीं समझता कि मैं इसके अलावा और क्या कर सकता हूं। इसलिए मैं आप से गंभीरतापूर्वक आग्रह करता हूं कि आप अपना उपवास समाप्त करके इस मसले का जल्दी से जल्दी हल निकालें। इससे उन कारणों को समाप्त करने में भी मदद मिलेगी जिनके कारण आप उपवास पर बैठे हैं।"

हालांकि पटेल 16 जनवरी, 1948 को सौराष्ट्र के दौरे पर चले गए लेकिन उनके मन में गांधी की चिंता बनी हुई थी और साथ ही उस हिंदू मुस्लिम एकता की जिसके लिए गांधी ने फिर अपना जीवन दांव पर लगा दिया था। उन्होंने (पटेल ने) एक जगह भाषण में कहा भी ''आप ने अभी सुना होगा कि लोग चिल्ला रहे हैं कि मुसलमानों को भारत से निकाल दिया जाए। जो ऐसा कर रहे हैं वे गुस्से से पागल हो गए हैं। गुस्से से

पागल होने वाले से बेहतर तो एक मानसिक तौर पर विक्षिप्त व्यक्ति (ही होता) है।" पटेल ने आगे कहा "मैं एक बेवाक आदमी हूं। मैं हिंदुओं और मुसलमानों के लिए समान रूप से कड़वी बातें कहता हूं।"

पटेल की बढ़ती आलोचनाओं और अपने अनशन को उनके खिलाफ बताए जाने से गांधी बहुत दुखी थे और उन्होंने इस मामले पर स्पष्टीकरण दिया – "यह बात कभी मेरे दिमाग में नहीं आई। कई मुस्लिम मित्रों ने सरदार के कथित मुस्लिम विरोधी रवैए के खिलाफ मुझसे शिकायतें की हैं। मैंने उन्हें कोई स्पष्टीकरण दिए बिना दबी पीड़ा के साथ उनकी बातें सुनीं। मैं आलोचकों को यह विश्वास दिला सकता हूं कि वे उन्हें (पटेल को) मुझसे और पंडित नेहरू से अलग देखने में गलती कर रहे थे...। सरदार बोलने में एक तरह मुंहफट हैं जिससे कभी–कभी गैरइरादतन चोट पहुंचती है हालांकि उनका दिल इतना विशाल है कि वे सभी को समाहित कर सकते हैं। इस तरह मेरा यह बयान एक आजीवन विश्वसनीय रहे साथी को अमर्यादित विरोध से मुक्त करने के लिए है।" इस बीच पटेल और नेहरू के रिश्ते काफी बिगड़ गए थे। दोनों अपना विवाद निपटाने के लिए गांधी के पास गए। पर इस बार वे अपने गुरु नहीं अंपायर के पास गए थे। नेहरू ने गांधी को 6 जनवरी को पत्र लिखा और पटेल ने 12 जनवरी को। उनके पत्रों में तमाम राजनीतिक विवादों के बावजूद एक दूसरे के लिए पद छोड़ने का प्रस्ताव भी था। नेहरू ने लिखा कि अगर प्रधानमंत्री के काम को अहमियत नहीं दी जाती जैसा कि वे देख रहे हैं, "तो एक ही विकल्प बचता है कि या तो मैं मंत्रिमंडल छोड़ दूं या सरदार। अगर किसी को छोड़ना है तो सबसे पहले मैं अपने को पेश करता हूँ।" सरदार ने लिखा था, "अगर किसी को (मंत्रिममंडल से बाहर) जाना है तो मैं जाऊंगा। मैं सक्रिय सेवा का लंबा जीवन गुजार चुका हूं। प्रधानमंत्री देश के मान्य नेता हैं और तुलनात्मक तौर पर युवा हैं। मुझे कोई संदेह नहीं है कि जब उनके और मेरे बीच चयन का मौका आए तो फैसला उन्हीं के पक्ष में होना चाहिए। इसलिए उनके पद छोड़ने का सवाल ही नहीं उठता।"

23 दिसंबर को सरदार ने नेहरू को अपना इस्तीफा भेज दिया था। इस बीच वे जम्मू भी गए और वहां महाराजा और महारानी से मिले। इस पर नेहरू ने गांधी से शिकायत की कि उन्हें बताए बिना पटेल कश्मीर गए हैं। इन तमाम विवादों के बीच पटेल देश का दौरा करते रहे और गांधी के फैसले का इंतजार भी करते रहे। मंत्रिमंडल में पाकिस्तान को 55 करोड़ देने का मामला उठा और पटेल ने कहा कि एक पाई नहीं दी जाएगी। इस पर मुखर्जी, गाडगिल और आंबेडकर ने उनका साथ दिया। बताया जाता है कि नेहरू भी इस फैसले के पक्ष में थे। आखिरकार 30 जनवरी, शुक्रवार को चार बजे गाँधी और पटेल के बीच बिड़ला हाउस में सीधी बातचीत शुरू हुई। पास में (पटेल की बेटी) मणिबेन भी बैठी थीं। उस बातचीत में पटेल बोल रहे थे और गांधी सुन रहे थे। यह वार्ता आधे घंटे से ज्यादा चली और गांधी ने वही बात दोहराई जो उन्होंने 23 दिसंबर को कही थी। गांधी का कहना था कि मंत्रिमंडल में पटेल की मौजूदगी अपरिहार्य है और उसी तरह नेहरू की भी। यह भी तय हुआ कि गांधी पटेल और नेहरू तीनों अगले दिन मिलेंगे। उसके बाद गांधी प्रार्थना में दस मिनट देर होने के कारण चले गए और फिर कभी वापस नहीं आए।

गांधी की हत्या के बाद पटेल ने नेहरू का हर मोर्चे पर साथ दिया और विवाद को सीमित रखा। नेहरू ने भी गांधी को दिए वचन और गांधी की इच्छा का आदर किया। यही वजह थी कि देश के एकीकरण और सांप्रदायिक दावानल को शांत करने में दोनों ने अपना योगदान किया। दोनों ने भारत जैसे बहुधर्मी और बहुसंस्कृतिवाले देश को एक करने और पाकिस्तान जैसे समस्यादायक पड़ोसी से निपटने में महत्वपूर्ण योगदान किया। विभाजन के बाद पाकिस्तान की हरकतों से भारत परेशान हो रहा था। नेहरू चाहते थे कि इस मसले का जवाब अंतरराष्ट्रीय राजनय और सौहार्दपूर्ण संवाद से दिया जाए। पटेल मानते थे कि धमकाए बिना न तो पाकिस्तान माननेवाला है और न ही देसी रियासतें। हालांकि पटेल हिंदू–मुस्लिम विवाद के लिए मुस्लिम लीग से कहीं ज्यादा अंगरेजों को दोषी मानते थे और उनका कहना भी था कि उन्हें ग्रेट ब्रिटेन पर चंद महीने शासन करने दिया जाए तो वे तमाम समुदायों में महाविवाद पैदा कर देंगे। पटेल चाहते थे कि मुस्लिम लीग की नीतियों से सीधे निपटा जाए और इस दौरान देश के मुसलमान उनका साथ दें। पाकिस्तान ने जब पूर्वी बंगाल से हिंदुओं को खदेड़ना शुरू किया तो उस मोर्चे पर तनाव पैदा हो गया। इस

पर सरदार ने धमकी दी कि अगर पाकिस्तान ने हिंदुओं को भेजना बंद नहीं किया तो वे उसी तरह से मुसलमानों को पाकिस्तान भेजना शुरू कर देंगे। इस बयान ने फिर विवाद खड़ा कर दिया और राष्ट्रवादी मुसलमान भड़क गए। नेहरू ने इस मामले पर प्रत्यक्ष कुछ नहीं कहा, लेकिन पटेल को निजी स्तर पर समझाया कि इससे भारत की बदनामी होगी और फिर ऐसा करना व्यावहारिक भी नहीं होगा।

पटेल की धमकियों का असर था कि पाकिस्तानी प्रधानमंत्री लियाकत अली खान दिल्ली आए और अप्रैल, 1950 में नेहरू–लियाकत समझौता हुआ। इस समझौते के तहत दोनों देशों में हिंदुओं और मुसलमानों को समान स्तर की नागरिकता देने की बात कही गई। इस समझौते का पश्चिम बंगाल के हिंदुओं ने जबरदस्त विरोध किया। नेहरू मंत्रिमंडल के सदस्य श्यामा प्रसाद मुखर्जी और के सी नियोगी ने इस्तीफा दे दिया पर पटेल नेहरू के साथ खड़े रहे। पटेल ने भाषा के मामले पर भी साझी विरासत को ही समर्थन दिया। इस बात का सबूत उस समय मिलता है जब आल इंडिया रेडिया विभाजन के बाद उर्दू को पाकिस्तान की भाषा मानने लगा था और अपनी उद्घोषणाओं में संस्कृतनिष्ठ हिंदी चलाने लगा। सूचना और प्रसारण मंत्री के रूप में पटेल ने इस पर सख्त एतराज किया और कहा कि इसे साहित्यिक सभा मत बनाइए। उन्होंने गांधी का हवाला देते हुए साफ तौर पर उर्दू मिली हिंदी यानी हिंदुस्तानी के चलन पर जोर दिया। यह वही भाषा थी, जिसके पक्ष में नेहरू भी थे। पटेल की उर्दू पक्षधरता यहीं नहीं रुकी। उन्होंने प्रकाशन विभाग की पत्रिका 'आजकल' के उर्दू संस्करण को श्रेष्ठ बनाने के लिए जोश मलीहाबादी को उसका संपादक बनाने का फैसला किया। जोश मलीहाबादी के बारे में पटेल से तमाम शिकायतें की गईं। कहा गया कि वे बहुत शराब पीते हैं और राष्ट्रवादी लिबास में कम्युनिस्ट हैं। शिकायत करनेवाले जानते थे कि पटेल कम्युनिस्टों को पसंद नहीं करते हैं। पटेल ने उन शिकायतों को दरकिनार कर उनकी नियुक्ति को मंजूरी दी। लेकिन उस विभाग के तत्कालीन सचिव एन सी मेहता नियुक्ति की फाइल महीनों दबाए बैठे रहे। जब यह बात सरदार को पता चली तो उन्होंने मेहता को हटाकर हिमाचल में मुख्य आयुक्त बना दिया और जोश की नियुक्ति कर दी। हालांकि जोश साहब बाद में पाकिस्तान चले गए लेकिन उन्होंने यह कदम तब उठाया जब पटेल गुजर चुके थे।

हैदराबाद की रियासत को मिलाने के दौरान पटेल ने जो भी कुछ किया, उस पर सांप्रदायिक होने का आरोप लगाया गया। हालांकि इस बीच रजाकारों के आंदोलन की अगुआई करनेवाले कासिम रिजवी और निजाम ने मुसलमान जनता की भावनाओं को कम नहीं भड़काया। फिर भी जब हैदराबाद भारत में मिला लिया गया तो पटेल ने वहां की मुसलमान जनता को संबोधित करते हुए जो कहा वह गांधी और नेहरू की सोच से अलग लेकिन सद्भावपूर्ण नीति का ही बयान था। उन्होंने कहा– ''पाकिस्तान बनने से हैदराबाद के मुसलमानों को डरने की कोई जरूरत नहीं है। हम सोचते थे कि हम पारस्परिक शांति और प्रेम से रह सकेंगे। हर देश अपना भविष्य अपने ढंग से तय करेगा और जिस भी तरह से उसे आकार देना होगा, देगा। लेकिन पाकिस्तान ने अलग रास्ता चुना और अलग नीति भी। मैं पाकिस्तान को बताना चाहता हूं कि उसकी बुरी से बुरी कोशिशों के बावजूद हिंदुओं और मुसलमानों के बीच साथ में रहते हुए सदियों से जो सौहार्दपूर्ण संबंध बना है, वह मिट नहीं जाएगा। इन दबावों से दिलों को नहीं बांटा जा सकता। अगर आप में से कोई यह मानता है कि वे आपकी रक्षा करेंगे तो वह गलतफहमी में है। इसलिए मैं मुसलमान दोस्तों से कहता हूं कि वे उनके झांसे में न आएं। मैं हिंदुओं से अपील करता हूं कि वे अतीत को भूल जाएं। आखिरकार वह सब शहर में रहनेवाले कुछ लोगों ने किया। गांवों में रहने वाले लाखों मुसलमान इसके बारे में जानते ही नहीं थे। उन्होंने पाकिस्तान की कभी परवाह नहीं की। आखिरकार उन्होंने ऐसा क्या गलत किया है कि उनके साथ अलग व्यवहार किया जाए?''

हैदराबाद को मिलाने के दौरान पटेल पर भले सांप्रदायिक होने का आरोप लगा हो लेकिन तथ्य यह भी बताते हैं कि उन्हें ओस्मानबाद, बीड़ और बीदर जैसे जिलों में जैसे ही मुसलमान विरोधी दंगों की खबर मिली, उन्होंने कार्रवाई करने में देर नहीं की। यह बात हैदराबाद के मुख्य सिविल प्रशासक डी एस बखले ने अपनी रिपोर्ट में बताई है। यह तथ्य उन लोगों के लिए आंखें खोलनेवाले हैं, जो गुजरात के भयानक दंगे में मूक दर्शक बने रहने के बाद पटेल की विरासत पर

दावा करने की कोशिश कर रहे हैं। पटेल की आलोचना भले ही हुई लेकिन उन्होंने राजधर्म निभाने से कभी कदम पीछे नहीं खींचा न ही अपने विचारों में भेदभाव को गहरे जमने का मौका दिया, हालांकि उस समय के हालात आज से कई गुना खराब थे। धर्मनिरपेक्ष भारत की नींव रखने में नेहरू को काफी श्रेय दिया जाता है पर सारा श्रेय उन्हीं को दे देना उचित नहीं है। देश में अल्पसंख्यकों को अधिकार दिलाने में पटेल की भूमिका उनसे कम नहीं थी। पटेल अल्पसंख्यकों और मौलिक अधिकारों की सलाहकार समिति के अध्यक्ष थे और उन्होंने तमाम दबावों के बावजूद अल्पसंख्यकों को धर्म के प्रचार का हक, भाषा, लिपि और संस्कृति के संरक्षण का हक और अपनी शैक्षणिक संस्थाओं को चलाने का अधिकार दिलाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जबकि सरदार के करीबी नेता के एम मुंशी और पुरुषोत्तम दास टंडन इसके सख्त खिलाफ थे। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25, 29 और 30 ने अल्पसंख्यकों को जो कुछ ताकत दी है वह पटेल के समर्थन के बिना संभव नहीं थी। यह बात पटेल को सांप्रदायिक बतानेवालों को भी समझ लेनी चाहिए और उन लोगों को भी जो पटेल को अपना आदर्श बताने के बावजूद कभी समान नागरिक संहिता की बात करते हैं तो कभी अनुच्छेद 29 और 30 को खत्म करने की।

यहां एक और घटना का जिक्र पटेल के नेहरू से तालमेल और उनके (पटेल के) धर्मनिरपेक्ष चरित्र को प्रकट करता है। मामला न्यायमूर्ति बशीर अहमद को मद्रास उच्च न्यायालय में स्थायी जज नियुक्त करने का था। सरकार ने उनकी नियुक्ति को मंजूरी दे दी लेकिन मुख्य न्यायाधीश कानिया ने उस पर आपत्ति कर दी। नेहरू इससे सख्त नाराज थे और उन्होंने पटेल को पत्र लिखकर कहा कि न सिर्फ बशीर की नियुक्ति की जाए बल्कि कानिया को मुख्य न्यायाधीश के पद से बरखास्त किया जाए । नेहरू की तरह ही सरदार का भी मानना था कि बशीर अहमद की नियुक्ति होनी चाहिए। पटेल ने यहां व्यावहारिकता का परिचय दिया और नेहरू की बात मानते हुए बशीर अहमद की नियुक्ति कर डाली और कानिया को हटाने के तमाम खतरों के प्रति आगाह करते हुए नेहरू को समझा भी लिया। यहाँ यह भी उल्लेख करना जरूरी लगता है कि अयोध्या में बाबरी मस्जिद के बाहर रामलला की मूर्ति की स्थापना का विवाद 1949 में उस समय उठा था जब पटेल देश के गृहमंत्री थे और गोविंदवल्लभ पंत उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री। इस मामले पर नेहरू के पत्र का जवाब और उस पर की गई कार्रवाई का ब्योरा देखकर नेहरू को कहना पड़ा, ''पटेल को आमतौर पर कट्टर हिंदू विचारों का व्यक्ति माना जाता है लेकिन वास्तव में उनकी मुख्य चिंता देश की एकता है।'' यहां नेहरू ने यह भी कहा कि राजेंद्र प्रसाद, पटेल के मुकाबले कम धर्मनिरपेक्ष हैं।

अलग चुनाव क्षेत्र का नियम खत्म करनेवाली रपट संविधान सभा को पेश करते हुए पटेल ने बहुसंख्यकों को सचेत करते हुए कहा था, असंतुष्ट अल्पसंख्यक न सिर्फ बोझ हैं बल्कि खतरा भी है। हमें किसी अल्पसंख्यक समुदाय की भावनाओं को आहत करने का कोई काम नहीं करना चाहिए। यह जिम्मेदारी बहुसंख्यक समुदाय की है कि वह अपनी उदारता से अल्पसंख्यकों में आत्मविश्वास पैदा करे। सरदार को सांप्रदायिक बतानेवालों को यह नहीं भूलना चाहिए कि गांधी ने जिस खिलाफत आंदोलन के माध्यम से देश में हिंदू–मुस्लिम एकता का माहौल पैदा करने की कोशिश की थी, उस आंदोलन के मजबूत नेता के तौर पर सरदार पटेल उभरे। सरदार की इस भूमिका को अली बंधुओं ने भी सराहा। सरदार ने भी अली बंधुओं का जमकर समर्थन किया और अपनी देशी समझ के आधार पर हिंदू मुस्लिम एकता के सूत्र तलाशने में जुट गए। उन्होंने हिंदू–मुस्लिम एकता की नाजुक जमीन को बचाने के बारे में अपनी टिप्पणी कुछ इस तरह से की, ''हमने ईमानदारी से अपनी कमजोरियों से एक निश्चित तरीके से उबरने की कोशिश की है। इस बात के लिए अगर किसी प्रमाण की जरूरत है तो वह हिंदू–मुस्लिम एकता है। मैं गर्व के साथ दावा कर सकता हूं कि हमारे रिश्ते न सिर्फ दोस्ती पर आधारित हैं बल्कि लाभकारी सहयोग पर आधारित हैं, ताकि हम देश को आगे ले जा सकें।''

दरअसल पटेल के व्यक्तित्व को हम गांधी और नेहरू से अलग करके नहीं देख सकते। पटेल सबसे पहले गांधी के अनुयायी हैं। वे उनके आदर्शों को जमीन पर उतारने वाले हैं। पर वे कहीं भी गांधी की

तरह सिद्धांत नहीं गढ़ते। बहुत संभव है कि पटेल उस समाज से आते हों जहां गांधी का हिंद स्वराज बसता हो। लेकिन वे हिंद स्वराज की दुनिया नहीं बनाना चाहते थे। न ही वैसी दुनिया नेहरू चाहते थे। इसके बावजूद पटेल गांधी के चाटुकार नहीं थे। वे गांधी से असहमत भी होते थे और अपने व्यक्तित्व को उनके व्यक्तित्व में विलीन नहीं होने देते थे। राजमोहन गांधी ने ठीक ही कहा है कि पटेल गांधी के छोटे भाई जैसे थे जबकि नेहरू बेटे जैसे। इसलिए उत्तराधिकार तो नेहरू को ही मिलना था और छोटे भाई को पहले बड़े भाई के पीछे चलना था और बाद में भतीजे की रक्षा के लिए उसके साथ होना था। जो लोग उनके और गांधी के बीच कटुता की बात करते हैं उन्हें उनके अंतिम दिनों की घटनाओं से यह समझना होगा कि वे भावनात्मक रूप से उनके कितने निकट थे। राजमोहन गांधी लिखते हैं कि गांधी की हत्या के पांच हफ्ते बाद यानी 5 मार्च 1948 को जब पटेल को पहली बार दिल का दौरा पड़ा तो वे होश आने पर बापू–बापू ही रटते थे। इस वक्त पटेल ने यह भी कहा, 'मुझे बापू के साथ जाना होगा। क्योंकि वे अकेले गए हैं।'

पटेल की तबीयत बिगड़ने की वजह के तौर पर घनश्याम दास बिड़ला और डाक्टरों ने कहा कि उनकी तबीयत महज काम के बोझ से नहीं बिगड़ी है। बापू की मौत ने उनको गहरा झटका दिया है। नेहरू और अपने विवाद के बारे में सरदार ने सी आर यानी चक्रवर्ती राजगोपालाचारी से कहा, ''बापू की मौत तक मैं नेहरू का विरोध किया करता था और उनसे लड़ता था।" उन्होंने गांधी की अंतिम इच्छा का सम्मान किया कि नेहरू से मिलकर काम करना चाहिए और खुली आलोचना नहीं करनी चाहिए। लेकिन पटेल को जब भी लगता था कि नेहरू की नीति से देश को क्षति पहुंच रही है तो वे चुप नहीं रहते थे।

सरदार की सबसे बड़ी मूर्ति बनवाने जा रही राजनीति बताती है कि उनके अंतिम संस्कार में नेहरू नहीं गए। दरअसल यह इतिहास को झुठलाना ही नहीं उस समय के महापुरुषों के व्यक्तित्व को कम करके आंकना है। उनका बड़प्पन उनके विचारों से बड़ा था। वह कट्टर नहीं पर्याप्त लचीला था जिसमें तमाम लोग समा सकते थे। 15 दिसंबर, 1950 को सुबह 9.37 पर सरदार ने बंबई में अंतिम सांस ली तो बंबई पहुंचने की होड़ लग गई। नेहरू और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी दिल्ली से वहां पहुंचे। राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद भी अपने को नहीं रोक पाए। उस समय देश के ये तीनों नेता बिना संकोच के रोए। मौलाना आजाद ने कहा– पटेल का साहस पर्वत जितना ऊंचा था और उनका दृढ़ संकल्प इस्पात जितना मजबूत था। बंबई जाने से पहले पंडित नेहरू ने संसद में कहा, ''आज सुबह 9.37 पर उनके (पटेल के) महान जीवन की कथा समाप्त हो गई। हम सभी जानते हैं कि उनका जीवन महान था और यह बात पूरा देश जानता है। इतिहास उसे कई पन्नों में दर्ज करेगा और उन्हें आधुनिक भारत के निर्माता और एकता लानेवाले नेता के तौर पर याद करेगा। लेकिन हममें से तमाम लोग उन्हें हमारे स्वाधीनता संग्राम के महान नायक के तौर पर याद करेंगे। वे संकट और विजय के समय हमें ठोस सलाह देते थे। एक मित्र और साथी के तौर पर हम उन पर यकीन कर सकते थे, वे शक्ति के उस स्तंभ की तरह थे, जो कमजोर दिलों में ताकत भर देता है।"

पटेल की दिक्कत यह थी कि वह अपने समय की परिस्थितियों को सैद्धांतिक तौर पर समझने के बजाए व्यावहारिक तौर पर समझने की कोशिश करते थे जबकि उनके आलोचकों की दिक्कत यह थी कि वे उन्हें सैद्धांतिक तौर पर समझना चाहते थे। आदर्श और हकीकत की इसी खींचतान में पटेल को समझने में गलतफहमी हुई है। यही वजह है कि एक तरफ हिंदू राष्ट्र की छवि धारण करनेवाले नरेंद्र मोदी उस पटेल को अपना आराध्य बनाकर उनकी दुनिया में सबसे बड़ी मूर्ति कायम कर रहे हैं तो कांग्रेस उनकी विरासत छोड़कर किनारे खड़ी है। आज मजबूरी में पटेल की जीवनियां अगर पढ़ी जा रही हैं तो निश्चित तौर पर इसके पीछे संघ परिवार की तरफ से कांग्रेस के नेताओं को हड़प कर अपने राष्ट्रवाद को ताकत देने का खतरा है। आज जरूरत पटेल की मूर्ति कायम कर उन्हें सावरकर, गोलवलकर, आडवाणी और मोदी की परंपरा में ठेल देने की नहीं बल्कि उन्हें गांधी और नेहरू की विरासत में रखकर देखने और भारत के उस विचार को समझने की है, जिसे उन लोगों ने मिलकर कायम किया था।

■

असम में लव है, जेहाद नहीं

रत्नेश कुमार

असम में लव है, जेहाद नहीं। 'लव जेहाद' तो बिलकुल नहीं। जो प्रेम–मुहब्बत करते हैं, वे प्रेम–मुहब्बत का मतलब जानते हैं, जेहाद का नहीं। प्रेम परंपरा नहीं, प्रगति है। मुहब्बत रिवाज नहीं, रिवाज के खिलाफ आवाज है। जेहाद अरबी में जिहाद है। प्रेम–मुहब्बत के खिलाफ जो होता है, वह जेहाद है। सच्चाई तो यह है कि लड़ाई प्रेम–मुहब्बत बनाम जेहाद की है। जहाँ जेहाद है वहाँ प्रेम–मुहब्बत अथवा लव है भी नहीं, और हो भी नहीं सकता।

किसी गैर का नहीं अपना अनुभव बताता हूँ।जब मैं कॉलेज में पढ़ता था और मैट्रिक (माध्यमिक) में पढ़ रही एक लड़की को पढ़ाता था, जो संयोग से मुसलमान थी। हम दोनों एक दूसरे को चाहने लगे थे। उसने यह नहीं चाहा था कि मैं मुसलमान बन जाऊं और मेरे दिमाग में भी उसे हिंदू बनाने की बात नहीं आई। क्या मैं मुसलमान लड़की से प्रेम कर कोई धर्म युद्ध कर रहा था? हमारी शादी नहीं हुई। क्या हर प्रेम की परिणति शादी में होती है। मेरे कई हिंदू मित्रों ने हिंदू लड़कियों से ही प्रेम किया लेकिन उनमें से किसी की भी उस लड़की से शादी नहीं हुई, जिससे वे प्रेम करते थे।

पिछले बीस साल से मैं असम में रह रहा हूँ और अब अपने को बिहारी से ज्यादा असमिया मानता हूँ। मेरे दो असमिया परिचितों बहारुल इस्लाम और अनूप हजारिका ने 'लव जेहाद' नहीं किया, उन्होंने सिर्फ लव किया। बहारुल इस्लाम ने भागीरथी से प्रेम किया और बाद में शादी भी उनसे की। दोनों ने नई दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रशिक्षण प्राप्त किया है और वहीं उनमें प्रेम का बीज पड़ा। दोनों दो होनहार बच्चियों बरखा और जिया के प्रिय माँ – 'देउता' (मम्मी–पापा) है। भागीरथी जी आम हिंदू स्त्री की तरह पूजा–पाठ करती हैं। प्रायः हर शनिवार को मंदिर जाती हैं। बहारुल जी के घर में, जो भागीरथी जी का भी घर है, एक छोटा सा पूजा घर भी है जिसमें वह नियम से पूजा करती हैं।

अनूप हजारिका भी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रशिक्षित रंगकर्मी हैं। उनका पाकीजा बेगम से प्रेम हुआ। पाकीजा जी असमिया रंगमंच की शीर्ष दस (टाप टेन) अभिनेत्रियों में से एक हैं। दोनों असमिया रंगमंच के जाने–माने अभिनेता–अभिनेत्री हैं। दोनों एक प्यारी बेटी हिया के माता–पिता हैं।

बहारुल–भागीरथी और अनूप–पाकीजा अब प्रेमी दंपति हैं। दोनों दंपतियों में से किसी ने किसी पर कभी धर्म–परिवर्तन के लिए दबाव डाला हो, ऐसी किसी को कोई खबर नहीं है। दोनों दंपति अपने में और अपने काम में मगन हैं। हाँ, पाकीजा जी कुछ ज्यादा ही धार्मिक हैं। वह इस्लामी धार्मिक रीति–रिवाजों के साथ हिंदू धार्मिक रीति–रिवाजों का भी पूरी श्रद्धा के साथ पालन करती है। मेरी कभी उनसे 'लव जेहाद' पर चर्चा करने की हिम्मत नहीं हुई कि कहीं वे 'क्या बकवास करते हैं आप' कहकर मेरा तिरस्कार न करें।

असम में यही दो नामवर दंपति नहीं है, जिन्होंने प्रेम में मजहब की दीवार को आड़े आने नहीं दिया है। अनेक ऐसे दंपति हैं जो अलग–अलग धर्म या मजहब के हैं। देश का कोई भी राज्य ऐसा नहीं होगा, जिसमें ऐसे दंपति न हों। सदियों से मुसलमान लड़के हिंदू लड़कियों से और हिंदू लड़के मुसलमान लड़कियों से प्रेम करते आए हैं। प्रेम किसी नियोजित षड़यंत्र के तहत नहीं होता, वह तो बस हो जाता है। जो प्रेम को षड़यंत्र के रूप में पेश करते हैं और प्रेमियों को 'जिहादियों' के रूप में पेश करते हैं, वे प्रेम करने में अक्षम षडयंत्रकारी हैं। वे तालिबान हैं, वे बजरंगी हैं ; बम्बइया फिल्मों के प्राण और जीवन हैं।

'लव जेहाद' एक झूठा प्रचार है, यह तो अब प्रमाणित भी हो गया है। फिर भी प्रमाण जुटाना हो तो हमारी सलाह है –– भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय प्रवक्ता शाहनवाज हुसैन की पत्नी हिंदू है। क्या उन्होंने 'लव जेहाद' की रणनीति के तहत मुसलमान होते हुए हिंदू स्त्री से विवाह किया है? अगर उन्होंने अपनी पत्नी का अब तक धर्मांतरण न करवाया हो तो उन्हें और देर नहीं करनी चाहिए ताकि 'लव जेहाद' के एक प्रत्यक्ष और ज्वलंत उदाहरण के तौर पर उनका निजी मामला एक षड़यंत्र के रूप में एक राजनीतिक मामला बनाया जा सके। आमीन ! ■

साक्षात्कार

एकांगी दृष्टिवाला विकास विध्वंसक

माधव गाडगिल से अतुल कुमार की बातचीत

भारत के पश्चिमी घाट की पारिस्थितिकी के संरक्षण को लेकर अध्ययन करने के लिए केंद्र सरकार ने बंगलुरू स्थित इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस के सेंटर फॉर इकोलॉजिकल साइंस के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. माधव गाडगिल की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया था, जिसे गाडगिल समिति के नाम से जाना जाता है। समिति ने 31 अगस्त 2011 को अपनी रिपोर्ट वन एवं पर्यावरण मंत्रालय को सौंप भी दी। लेकिन केंद्र सरकार इसे लागू करना तो दूर, सार्वजनिक करने से भी कतराती रही। अंततः सूचना के अधिकार आवेदन के तहत सरकार को यह रिपोर्ट सार्वजनिक करनी पड़ी। इससे पश्चिमी घाट में औद्योगीकरण और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से होने वाली पारिस्थितिकीय क्षति की भयावह तस्वीर लोगों के सामने आई। गाडगिल समिति ने अपनी 521 पृष्ठों की रिपोर्ट में मुख्य रूप से पश्चिमी घाट की पारिस्थितिक संवेदनशीलता को देखते हुए वहाँ की भू–स्थानिक स्थितियों के आधार पर आसानी से उपलब्ध हो सकनेवाली जानकारियों का तत्काल संकलन कराने की जरूरत पर बल दिया है और साथ ही वहाँ की परियोजना के बारे में स्थानीय लोगों से बातचीत कर समाधान निकालने की बात कही है। समिति ने गुजरात, महाराष्ट्र, गोवा, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु में फैले पूरे पश्चिमी घाट के करीब 64 प्रतिशत हिस्से यानी 1,74,700 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को पारिस्थितिक दृष्टि से संवेदनशील घोषित करने की सिफारिश की थी लेकिन सरकार ने इस पर कार्रवाई के बजाय वन एवं पर्यावरण मंत्रालय के अधिकारी डॉ. के. कस्तूरीरंगन की अध्यक्षता में गाडगिल समिति की रिपोर्ट के पुनरावलोकन के लिए एक दूसरी समिति (पैनल) गठित कर दी। कस्तूरीरंगन पैनल ने पश्चिमी घाट के मात्र 37 प्रतिशत इलाके यानी करीब 60,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को ही पारिस्थितिक दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्र माना। गाडगिल समिति के एक सदस्य डॉ. वी.एस. विजयन ने कस्तूरीरंगन रिपोर्ट की आलोचना करते हुए उसे अलोकतांत्रिक और पर्यावरण विरोधी बताया है।

बहरहाल 25 सितंबर को सरकार ने गाडगिल रिपोर्ट को एक तरह से कूड़े में डालने का निर्णय कर डालने के साथ–साथ पश्चिमी घाट में किसी नई परियोजना को तब तक मंजूरी देने पर रोक लगा दी है जब तक कि संवेदनशील क्षेत्र निर्धारित करने की विज्ञप्ति (नोटिफिकेशन) जारी नहीं की जाती।

इस 20 सितंबर को प्रो. माधव गाडगिल पुणे के एस.एम.जोशी सोशलिस्ट फाउंडेशन में समाजवादी जन परिषद द्वारा आयोजित 'समाजवाद के लिए वैकल्पिक राजनीति' विषयक दो दिवसीय सेमिनार में '21वीं सदी का समाजवादः वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में' शीर्षक वाला अपना विचार–पत्र प्रस्तुत करने आए थे। इसी दौरान उनसे पश्चिमी घाट पर उनकी रिपोर्ट के सम्बन्ध में अतुल कुमार ने बातचीत की। प्रस्तुत है बातचीत :–

अतुल कुमार : एक विख्यात पर्यावरण वैज्ञानिक होने के नाते आप वर्तमान विकास की धारा को किस तरह से देखते हैं और इससे लोगों के सामने किस तरह की चुनौतियाँ आ रही हैं?

माधव गाडगिल : जो विकास हो रहा है वह बिलकुल गलत हो रहा है। यह विकास प्राकृतिक संपदा के दोहन पर आधारित है। यह बड़े अफसोस की बात है कि प्राकृतिक संपदा का इस्तेमाल सावधानीपूर्वक नहीं हो पा रहा है। इससे भी ज्यादा बुरी बात यह है कि देश के बहुत सारे लोग, जो प्राकृतिक संपदा पर निर्भर हैं, इस विकास के शिकार हो रहे हैं। विकास के बारे में एकांगी दृष्टि विध्वंसक है।

अतुल कुमार : इन समस्याओं का किस तरह का समाधान आप देख रहे हैं?

माधव गाडगिल : जब सच्चा लोकतंत्र पूरी तरह से कायम हो जाएगा तब जो लोग प्रकृति से जुड़े हैं और उसे संभालना चाहते हैं वही सुनिश्चित करेंगे कि विध्वंसक विकास नहीं होगा। अभी तो जो प्रकृति से जुड़े हैं, उनके साथ तरह–तरह से अन्याय होता है। आज एक ही रास्ता है कि लोगों को सच्चे लोकतंत्र की ओर कदम उठाने के लिए तैयार किया जाए।

अतुल कुमार : आपकी नजर में सच्चा लोकतंत्र किस तरह का होगा?

माधव गाडगिल : आज जो प्रातिनिधिक लोकतंत्र है, उसमें जो लोग चुने जाते हैं वे पहले सुधार का और विकास का आश्वासन देते हैं, लेकिन बाद में पुराने ढर्रे पर ही चलने लगते हैं। इसलिए राष्ट्रीय स्तर

पर सत्ता का जितना भी विकेंद्रीकरण हो सके, होना चाहिए। आदर्श स्थिति तो यह होगी कि प्रत्यक्ष लोकतंत्र हो। ऐसा कानून अभी है भी, ग्रामसभाओं के रूप में। लेकिन उसे ठीक से लागू नहीं किया जा रहा है। ग्रामसभाओं को पूरी तरह से अधिकार देकर वहाँ प्रत्यक्ष लोकतांत्रिक प्रणाली लागू की जा सकती है लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। प्रत्यक्ष लोकतांत्रिक प्रणाली को लागू कराने के लिए विशेष प्रयास होने चाहिए।

अतुल कुमार : आप उस समिति के अध्यक्ष रहे हैं, जिसने पश्चिमी घाट के पारिस्थितिकीय संरक्षण को लेकर रिपोर्ट तैयार की है। इस रिपोर्ट को तैयार करने के दौरान आपने क्या अनुभव किया?

माधव गाडगिल : आज जो तथाकथित विकास है, वह लोगों पर लादा जा रहा है। इससे सीमित लोगों को असीमित लाभ हो रहा है। पर्यावरण की क्षति का असर स्थानीय बाशिंदों पर प्रत्यक्ष पड़ता है। जो लाभ उठानेवाले हैं, वे तो मुंबई–लंदन में रहते हैं और वहीं से सारा लाभ उठा लेते हैं। उन्हें पर्यावरणीय और पारिस्थितिक क्षति से होने वाले विनाश से कुछ भी लेना–देना नहीं होता है। खनिजों की खुदाई से भारत में जो हानि हो रही है, उसकी चिंता उन्हें बिलकुल नहीं है। रिपोर्ट में हमने इस बात पर जोर दिया है कि विकास सभी लोगों के प्रयास से होना चाहिए, न कि कुछ लोगों के द्वारा। जब लोग विकास से जुड़ेंगे तब ही उन्हें उसका लाभ मिलेगा। हमने रिपोर्ट में काफी प्रत्यक्ष उदाहरण दिए हैं। रिपोर्ट में भ्रष्टाचार पर भी हमने नजर दौड़ाई है। इन्हीं कारणों से शासन रिपोर्ट से नाराज हो गया और उसने इसे सार्वजनिक नहीं होने दिया। वह तो सूचना के अधिकार का कानून है, जिसके तहत यह रिपोर्ट सार्वजनिक हुई और लोगों के सामने आई है।

अतुल कुमार : एक धारणा यह भी है कि आपकी रिपोर्ट के क्रियान्वयन की वजह से पश्चिमी घाट के स्थानीय किसानों, मछुआरों और अन्य बाशिंदों के सामने आजीविका और विस्थापन का संकट आ जाएगा। इसलिए वे लोग भी आपकी रिपोर्ट का विरोध कर रहे हैं। इस बारे में आपका क्या कहना है?

माधव गाडगिल : रिपोर्ट की गलत व्याख्या की वजह से किसानों के बीच इस तरह की आशंका निश्चित रूप से है। असल बात यह है कि नदी–प्रदूषण की वजह से मछुआरे और खेती–बारी वाले किसान खतम हो रहे हैं। साथ ही खुदाई और भू–स्खलन के कारण समस्या विकराल हो गई है। यातायात के भारी साधनों जैसे ट्रकों की आवाजाही से लोगों को तत्काल लाभ होता दिखता है, लेकिन दीर्घकाल में यह उनके अस्तित्व के लिए काफी नुकसानदेह साबित होनेवाला है।

अतुल कुमार : गाडगिल रिपोर्ट को लागू करने के संदर्भ में आप पहले की और अभी की केंद्र सरकार के रवैए के बारे में क्या कहना चाहेंगे?

माधव गाडगिल : देखिए, पिछली सरकार ने तो रिपोर्ट को दबाया ही, वह तो सूचना के अधिकार कानून के तहत सार्वजनिक हो पाई। रिपोर्ट में हमने सरकार से सिफारिश की है कि स्थानीय भाषाओं में रिपोर्ट की पूरी जानकारी लोगों को दी जाए और उस पर ग्रामसभाओं के स्तर पर चर्चा हो और उससे जो अभिप्राय प्रकट हों, उनके अनुरूप कदम उठाए जाएँ।

अब देखिए वर्तमान सरकार के मुखिया नरेंद्र मोदी पहले तो हमारी रिपोर्ट का समर्थन कर रहे थे पर हाल में 16जुलाई के अपने भाषण में उन्होंने विकास को जनांदोलन बनाने की जो बात कही है, उससे तो इस बात का साफ–साफ पता लग गया है कि वह किस तरह के विकास का जनांदोलन बनाना चाहते हैं। जाहिर है कि जिस तरह का विकास उनके दिमाग और सोच में है, उसमें तो हमारी रिपोर्ट की सिफारिशों को लागू करने का कोई अवसर नहीं आ सकता।

अतुल कुमार : सरकारें इस रिपोर्ट में से क्या बातें छुपाना चाहती हैं?

माधव गाडगिल : हमने जो उदाहरण दिए हैं और जो वस्तुस्थिति बताई है उसकी लोगों को जानकारी देने की बात हमने जोर देकर कही है, लोगों की राय से काम करने को कहा है। इन बातों पर सरकारों को आपत्ति है। उन्हें डर है कि लोगों को उनके अधिकार और कानून के बारे में पता चल जाएगा तो मुश्किलें खड़ी हो जाएँगी। इसी बात से सरकारें भयभीत हैं और रिपोर्ट के निष्कर्षों को छुपाना चाहती हैं।

अतुल कुमार : आप गाडगिल रिपोर्ट के क्रियान्वयन के बारे में सूत्रवाक्य के रूप में क्या कुछ कहना चाहेंगे?

माधव गाडगिल : मेरा आशय यही है कि लोगों को उनके खुद के परिसर को खुद सँभालने का जिम्मा दिया जाना चाहिए।

अतुल कुमार : क्या हम यह कह सकते हैं कि गाडगिल रिपोर्ट लागू हो जाने पर देश में लोकतंत्रीकरण, विकेंद्रीकरण और पारिस्थितिक और पर्यावरणीय संरक्षण की दिशा में एक नए अध्याय की शुरुआत हो सकती है?

माधव गाडगिल : नया अध्याय! हमारे संविधान में तो सारे प्रावधान पहले से मौजूद हैं। नया यह है कि पहली बार किसी आधिकारिक समिति ने स्पष्ट रूप से

रपट

टाटा समाज विज्ञान संस्थान में आदिवासी

लिंगराज आजाद

हाल में भारत सरकार ने भारतीय वन सेवा (आईएफएस) के सीनियर अफसरों को मुंबई के टाटा समाज विज्ञान संस्थान में प्रशिक्षण के लिए भेजा था। संस्थान ने प्रशिक्षण के दौरान ओड़िशा और मध्यप्रदेश के आदिवासी कार्यकर्ताओं से अफसरों की बातचीत, विचार विनिमय और सवाल–जवाब का एक कार्यक्रम आयोजित किया। ओड़िशा के डोंगरिया कोंध आदिवासी नियमगिरी पर्वत में वेदांत कंपनी द्वारा खनन का विरोध कर रहे हैं। उनके आंदोलन के चलते कंपनी खनन शुरू नहीं कर पाई है। यहाँ वन अधिकारियों के समक्ष डोंगरिया कोंध आदिवासियों के एक प्रतिनिधि लद शिकका ने अपना परिचय देते हुए जो कहा और उसके बाद अफसरों के सवालों का जो जवाब दिया वह संक्षेप में रखा जा रहा है :

लद शिकका : मेरा नाम लद शिकका है। मैं ओड़िशा से आया हूँ। हमारी भाषा में पहाड़ को डंगर कहते हैं। डंगर से हम बने डंगरिया। हमें डेंगरिया कंध कहते हैं। जंगल, डंगर और झरनों के बीच प्रकृति की गोद में हम रहते हैं। झरनों के साथ रहने के कारण हमें झरनिया कंध भी कहा जाता है। हमारी वेश भूषा, भाषा, संस्कृति और आहार–विहार दूसरों से अलग है। हम प्रकृति के पूजक हैं और प्रकृति की रक्षा को अपना धर्म मानते हैं। हमारे इष्ट देवता हारू पेनु (पहाड़, डंगर के देवता) और इष्ट देवी धरनी पेनु (धरित्री, धरती) हैं, जो हमें सुरक्षा प्रदान करते आ रहे हैं। हमें भोजन, पानी, हवा, दवा और रोजगार प्रकृति प्रदान करती है इसलिए अगर कोई प्रकृति को ठेस पहुंचाए, उस पर आघात करे और उसे मारने के लिए आए तो हम चुप रहेंगे क्या?

भारत सरकार के प्रतिनिधि अपने निजी स्वार्थ, लोभ, लाभ के लिए और अपने भोग–विलास को बढ़ाने के लिए हमारे भगवान नियमगिरि को वेदांत कंपनी को सौंप रहे हैं। किसने दिया है खनन करने का उन्हें अधिकार? क्या हमारे भगवान से बड़ी है सरकार? हमारे अधिकार को कोई छीने, यह हमें बर्दाश्त नहीं हो सकता। हम लोग 2003 से प्रतिवाद, विरोध और लड़ाई करते आ रहे हैं लेकिन सरकार हमारे अधिकार को मानती ही नहीं। हमारे जीवन, जीविका और हमारे पेनु (भगवान) को उजाड़ने का षड़यंत्र रचा जा रहा है। झूठे मुकदमे, उत्पीड़न और अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए हैं। हम जान दे देंगे पर अपना अधिकार नहीं छोड़ेंगे, सरकार को मानेंगे नहीं, मारेंगे नहीं, कंपनी को दखल करने देंगे नहीं।

आजादी के बहुत बरसों बाद सरकार को हमारी भलाई की याद आ रही है, नियमगिरि के लोगों के लिए कोई सरकारी परियोजना नहीं बनी, कोई पदाधिकारी हमसे कभी मिलने नहीं आया। लेकिन आज ये लोग इतने तत्पर क्यों हैं। कहते हैं नियमराजा नहीं, कंपनी विकास करेगी। सरकार हमारा विकास खुद नहीं कर पाती है और हमें एक मुनाफाखोर कंपनी के हवाले कर देती है। क्या जनता का भला चाहनेवाली सरकार का यही दायित्व होता है? हम नियमगिरि के राजा–प्रजा हैं। सरकार कंपनी की दलाल और गुलाम हो सकती है, हमें दलाल और गुलाम बनने के लिए क्यों मजबूर किया जा रहा है? हमारा सर्वनाश क्यों किया जाएगा?

तमाम लोग विकास, विकास कह रहे हैं। विकास का मतलब यह कि विनाश का दरवाजा खोल दिया जाए –– प्रकृति और परिवेश को उजाड़ा जाए? दीर्घकालीन सार्वजनिक जीवन और आजीविका को खत्म कर दिया जाए? लोगों को बेघर, बेरोजगार कर दिया जाए। विकास के नाम पर जंगल समाप्त किए जा रहे हैं। जीव–जगत का विनाश कर विकास करेंगे क्या? हमारा विकास चाहते हो तो हमें जिन चीजों की जरूरत पड़ती है उन्हें हमें उचित दाम पर दिलवाओ। हमसे दसगुनी कीमत ली जाती है। हमारी वनोपज को व्यापारी धोखेबाजी से पानी के मोल खरीदते हैं। इन व्यापारियों पर रोक लगाई जाए और सरकार हमसे उचित मूल्य पर वनोपज ख़रीदे। जिस तरह जल में मछली रहती है उस तरह हम वन में रहते हैं। नियमगिरि की लड़ाई केवल लांजीगढ़ ओड़िशा की

नहीं है। आप सोचो, आप भी जिन्दा रहना चाहते हो। हमारे साथ मिलकर धरती माँ, प्रकृति–परिवेश को बचाओ।

सवाल–जवाब

सवाल– आप लोग सरकारी परियोजना का विरोध करते हैं। क्या आप विकास नहीं चाहते?

जवाब– दुनिया में कोई नहीं होगा, जो विकास नहीं चाहता; हम विकास का विरोध क्यों करेंगे? जंगल को उजाड़ना, झरनों को सुखाना, स्थायी आजीविका को खत्म करना, हमारी जीवन–रेखा को समाप्त कर कंपनियों को मुनाफा दिलाना विकास नहीं पाखंड है। हम ऐसा विकास नहीं चाहते।

सवाल–आप लोग पढ़ाई क्यों नहीं करते?

जवाब– पढ़ाई करना और नहीं करना, दोनों हम चाहते हैं। पढ़ाई करनेवाले देश की भलाई करते होते तो आज हमें लड़ाई लड़नी नहीं पड़ती; ज्यादा लिख–पढ़ कर लोग देश को बेच देते हैं, हत्या करते हैं। हम जैसा पढ़ना चाहते हैं वैसा कौन पढ़ाएगा? घटिया पढ़ाई कर क्या फायदा होगा? जो हमारे बच्चे की भाषा नहीं समझ पाता, जिसकी भाषा हमारे बच्चे नहीं समझते, वह क्या पढ़ाएगा? हममें जो पढ़ गया है उसे पुलिस की नौकरी मिलती है, मास्टर की क्यों नहीं मिलती? यह शिक्षा देश बेचनेवाली है। हम इसके जाल में क्यों फंसेंगे?

सवाल– आप कहते हैं कि आप जंगल बचा रहे हैं पर आप जंगल काट कर खेती करते हैं तो आप कैसे जंगल बचाएंगे?

जवाब– यह झूठ है। हम जंगल को सुरक्षित रखते हुए जंगल काट कर खेती करते हैं। हम दूसरों की तरह जंगल नहीं उजाड़ते। इसके दोषी आदिवासी नहीं सरकार, कंपनियां और आप जैसे भोग–उपभोग करने वाले हैं।

सवाल– माओवादी और आदिवासी सड़क बनाने नहीं देते, ऐसे में विकास कैसे होगा?

जवाब– विकास सिर्फ सड़क बनाने से नहीं होता। हम चौड़ाई वाली सड़कों का विरोध करते हैं। 160.70 फुट चौड़ी सड़क क्यों और किसलिए? चौड़ी सड़क बनाकर कितने जंगल का नाश करेंगे! हम चाहते हैं 5.10 फुट की सड़क। आपने तमाम इलाकों में चौड़ा रास्ता बनाया तो क्या उससे विकास हो गया? ■

मत-विमत

संगठन और सरकार का फर्क

-गुफरान सिद्दीकी

देश के गृहमंत्री राजनाथ सिंह को पिछले दिनों तिरुअनंतपुरम में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक ऐसे कार्यकर्ता ने सार्वजनिक रूप से पगड़ी पहनाई, जिस पर माकपा के युवा संगठन के एक कार्यकर्ता की हत्या का अभियोग है और जो जमानत पर छूटा हुआ है।

देश के गृह मंत्री को हत्या के मामले में अभियुक्त व्यक्ति का सार्वजनिक रूप से पगड़ी पहनाना और इसकी तस्वीर खिंचवाना क्या संकेत देता है? गृहमंत्री की सुरक्षा का भारी इंतजाम रहता है। हत्या का अभियुक्त उन तक शायद इसलिए पहुँच सका क्योंकि वह रा0 स्व0 सं का कार्यकर्ता है और गृहमंत्री भी रा0 स्व0 सं से जुड़े हैं। ऐसा लगता है कि गृह मंत्री को संगठन या दल और सरकार के बीच जो फर्क होता है, उसका एहसास नहीं है या वह इस तरह के फर्क को कोई तवज्जो नहीं देते।

हम आज तक यह नहीं जान पाए हैं कि सरकार की सबसे ऊंची कुर्सियों पर बैठे लोग अपने 'गुरू भाइयों' की करतूत से सहमत हैं या असहमत? सार्वजनिक तौर पर 'असहमति' जता देने और अंदर ही अंदर उनके साथ खड़ा होने की रणनीति की मजबूरी, जो पिछले गठबंधन वाली एनडीए सरकार में बनी रहती थी, उसे भी तिलांजलि दे दी गई ?

रपट

सजप का सेमिनार

समाजवादी आंदोलन और नई चुनौतियाँ

सोवियत संघ के विघटन के बाद वैश्वीकरण के पक्षधर, जो असल में सारी दुनिया को पूंजीवाद का शिकार बनाना चाहते हैं, इस बात का जोर–शोर से प्रचार कर रहे हैं कि समाजवाद का कोई भविष्य नहीं है; उसकी मौत हो चुकी है। इस प्रचार में यह मान लिया गया है कि सोवियत संघ में समाजवाद था; जबकि वहाँ वास्तविकता कुछ और थी, उत्पादन के पूंजीवादी तरीकों से स्थापित सरकारी पूंजीवाद। बीसवीं सदी में सोवियत संघ में जो हुआ और अब चीन में जो हो रहा है (चीन तो सोवियत संघ से भी आगे बढ़ कर एक घोर तानाशाही व्यवस्था के तहत बर्बर पूंजीवाद को प्रोत्साहित कर रहा है) वह समाजवाद नहीं है। वैश्वीकरण के चलते इक्कीसवीं सदी में समाजवाद के समक्ष पहले से भी बड़ी और गंभीर चुनौतियां आ खड़ी हुई हैं। ऐसे समाजवादी आंदोलन को कौन से नए हथियार और नए विचार अपनाने की जरूरत होगी? इस मुद्दे पर बहस व विचार–विमर्श चलाने के लिए 'समाजवाद के लिए वैकल्पिक राजनीति' शीर्षक से समाजवादी जन परिषद के पुणे के एस.एम. जोशी फाउंडेशन में 19 और 20 सितंबर को एक सेमिनार का आयोजन किया। सेमिनार के विभिन्न सत्रों में समाजवाद के लिए आंदोलन और चिंतन कर रहे लोगों के विचार–पत्र रखे गए और उन पर विचार–विमर्श हुआ। सेमिनार में यह विमर्श उभरकर सामने आया कि 21वीं सदी के समाजवादी आंदोलन को पारिस्थितिकी और पर्यावरण पर मंडरा रहे संकट के बारे सचेत होना चाहिए और इनकी रक्षा पर बल देना चाहिए। वक्ताओं ने संघर्ष के साथ रचना की आवश्यकता बताई।

जनता के संपादक बुजुर्ग समाजवादी जी.जी. पारीख ने सेमिनार का उद्‌घाटन किया। साथी निशा सिवुरकर ने अपने स्वागत भाषण में सेमिनार की पृष्ठभूमि के बारे में बताया। जी.जी. पारीख ने अपने भाषण में कहा कि देश पर कॉरपोरेट क्षेत्र का शिकंजा कायम होता जा रहा है। मीडिया का प्रभाव भी बढ़ा है और उस पर कॉरपोरेट क्षेत्र पर नियंत्रण बढ़ रहा है। समाजवाद के लिए सत्ता (पॉवर) जरूरी है और यह बिना समझौतों के किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, इस पर हमें सोचना चाहिए। सेमिनार के उद्‌घाटन के बाद बीज भाषण के तौर पर सजप के राष्ट्रीय सचिव अफलातून ने सच्चिदानंद सिन्हा का लेख 'इक्कीसवीं सदी का समाजवाद' पढ़ा। (यह लेख वार्ता के सितंबर अंक में छपा है) सत्र के अध्यक्ष सजप के राष्ट्रीय अध्यक्ष जोशी जैकब ने कहा कि समाजवाद पिछली सदी की आशा रहा है। सोवियत संघ के पतन के बाद यह कहा जा रहा है कि समाजवाद का भी पतन हो गया है। चीन ने भी पूंजीवादी रास्ता अपना लिया है। 21 वीं सदी में हमें समाजवाद के विचार को नई दिशा में ले जाना होगा।

20 सितंबर को पहले सत्र में अनुराग मोदी ने सुनील का लेख प्रस्तुत करते हुए कहा– असल में इस सेमिनार की कल्पना सुनील की ही थी, और पिछले एक साल से वे इसकी तैयारी में लगे थे। सुनील ने गाँधी, लोहिया, रोजा लक्जमबर्ग, आंद्रे गुडरफ्रैंक जैसे चिंतकों द्वारा दिए संकेतों को पहचानने की बात करते हुए सच्चिदानंद सिन्हा, किशन पटनायक और बगाराम तुलपुले जैसे चिंतकों के विचारों को 13 बिंदुओं में व्यवस्थित ढंग से पेश किया है। दूसरे सत्र में पर्यावरणविद प्रो. माधव गाडगिल के भाषण का विषय था "21वीं सदी का समाजवाद–वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में"। देश के पश्चिमी घाट में आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था से हो रहे पारिस्थितिकीय नुकसान पर रिपोर्ट को लेकर चर्चा में रहे प्रो. गाडगिल ने समाजवाद के लिए ज्ञान–विज्ञान को जरूरी बताया। अरुण कुमार त्रिपाठी ने 'समाजवाद और विकल्प की राजनीति' शीर्षक अपने विचार पत्रमें सुनील को याद करते हुए कहा कि उनमें आलोचना सुनने पर शत्रुता की भावना नहीं आती थी, जो अक्सर लोगों में आ जाती है ; समाजवाद के लिए वैकल्पिक राजनीति चलाने के लिए अहंकार छोड़कर आलोचना सुनने की आदत डालना जरूरी है।

पूना विश्वविद्यालय की प्राध्यापक श्रुति तांबे ने "वैश्वीकरण का समाज पर प्रभाव" विषय पर बोलते हुए समाजवाद की राह में जातिवाद, पितृसत्ता, सामंती मूल्यबोध और वैश्वीकरण को बाधा बताया। दोपहर बाद के तीसरे सत्र में प्रिंस गजेन्द्र भाई ने समान शिक्षा

अधिकार और समाजवाद विषय पर अंग्रेजी में अपना व्याख्यान दिया। उन्होंने शिक्षा विषयक संविधान के अनुच्छेदों का उल्लेख करते हुए कहा कि अब तक इन अनुच्छेदों का पालन नहीं किया गया है।

अंत में समापन सत्र में बुजुर्ग गांधीवादी नारायण भाई देसाई ने समाजवाद और रचनात्मक कार्य विषय पर अपने विचार व्यक्त किये। उन्होंने कहा कि गांधी आज की राजनीति का विकल्प चाहते थे। उनका विकल्प प्रतिनिधिक लोकतंत्र से प्रत्यक्ष लोकतंत्र की ओर जाना था। जो समाजवाद लाना चाहते हैं, उन्हें प्रचार तंत्र से अलग होकर अपने आचरण को प्रचार तंत्र बनाना होगा। इसके लिए उन्होंने दिवंगत सुनील को एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया। बीच में कश्मीर की बाढ़ में पीड़ितों के बीच राहत कार्य से लौटे अभिजित वैद्य ने कहा कि समाजवादी आंदोलन की गतिशीलता के लिए समाजवादियों को गांधीवाद से जैसा संबंध उन्होंने जोड़ा है वैसा ही संबंध अंबेडकर और फुले से भी जोड़ना चाहिए।

दो दिनों के सेमिनार के विभिन्न सत्रों की अध्यक्षता जोशी जैकब, लिंगराज आजाद, कमल कृष्ण बनर्जी, फागराम, सरयू प्रसाद, अकरम हुसैन, शिवाजी गायकवाड़, रामजय प्रताप सिंह ने किया। सत्रों का संचालन डॉ. स्वाति, जगत नारायण, प्योली स्वातिजा, निशा शिवुरकर ने की। इस सम्मेलन की व्यवस्था करने का दायित्व सजप ने अपने दो साथियों– निशा शिवुरकर और डॉ. स्वाति को दिया था, जिसे उन्होंने बड़ी कुशलता से निभाया। सेमिनार के बाद राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में अध्यक्ष जोशी जैकब ने इन दोनों साथियों को धन्यवाद दिया।

प्रस्तुति : अतुल कुमार, अनूप

किशन पटनायक की पुण्यतिथि

सामयिक वार्ता के 37 वर्ष

''महात्मा गांधी ने अपनी अमर पुस्तिका 'हिंद–स्वराज' द्वारा आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का विकल्प प्रस्तुत किया था। किशन पटनायक ने 'हिंद–स्वराज' के दर्शन को आत्मसात कर उसे वैश्वीकरण के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया। 'सामयिक वार्ता' के माध्यम से उन्होंने वैकल्पिक राजनीति की विचारधारा को अभिव्यक्ति दी।'' समतावादी नेता किशन पटनायक की दसवीं पुण्यतिथि तथा उनके द्वारा शुरू की गई पत्रिका 'सामयिक वार्ता' के 37 वर्ष पूरे होने के मौके पर आयोजित विचार गोष्ठी में लंबे समय तक उनके सहयोगी रहे पूर्व संसद सदस्य शिवानंद तिवारी ने यह विचार व्यक्त करते हुए आगे कहा कि आजादी के पहले अंगरेजों द्वारा हिंदू और मुस्लिम कट्टरपंथ पर आधारित संगठनों को बढ़ावा दिया जाता था; इन संप्रदायों के बीच आजादी के इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी दूरी बढ़ी हुई है, यह चिंता का विषय है। झूठे तथ्यों के प्रचार से इस दूरी को बढ़ाने का सुनियोजित प्रयास किया जाता है। इसका सामना तथ्यों के सहारे किया जाना चाहिए। बौद्ध प्रभाव और भक्ति–आंदोलन के काल में जाति, लिंग, संपत्ति की गैरबराबरी कम हुई थी और भारतीय समाज ने हर क्षेत्र में प्रगति की। अंत में उन्होंने कहा कि आगामी दस वर्ष तक 'सामयिक वार्ता' के प्रकाशन में कोई बाधा न हो, इसके लिए योजना बनाई जानी चाहिए।

वरिष्ठ समाजवादी पत्रकार योगेंद्र नारायण ने कहा– कोई पत्रिका कितनी भी अच्छी क्यों न हो जनांदोलन खड़ा नहीं कर सकती। कार्यकर्ताओं की ईमानदारी और चरित्र से आंदोलन खड़े होते हैं और पत्रिका उसमें एक साधन के रूप में होती है। समाजवादी जनपरिषद के प्रांतीय उपाध्यक्ष अब्दुल्लाह अंसारी ने कहा कि किशन पटनायक समाजवाद को जीकर दिखाते थे। 'सामयिक वार्ता' जैसी पत्रिका बुनकरों, काश्तकारों और कारीगरों को भी बौद्धिक खुराक देती है, यह सिर्फ बौद्धिक वर्ग के लिए ही नहीं है। चौधरी राजेंद्र ने कहा कि किशन पटनायक ने वैश्वीकरण को प्रतिक्रांति के रूप में प्रस्तुत किया। वरिष्ठ शिक्षक नेता श्री अशोक श्रीवास्तव ने 1962–67 के दौर में युवा संसद सदस्य के रूप में किशन पटनायक द्वारा लोक सभा में उठाई गई चर्चाओं का जिक्र किया।

गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए कवि जसवीर 'एकला' ने कहा कि हमें नए समय के अनुरूप भाषा गढ़नी होगी। गोष्ठी का संचालन 'सामयिक वार्ता' के संपादक मंडल के सदस्य अफलातून ने तथा धन्यवाद ज्ञापन संपादक मंडल के संयोजक चंचल मुखर्जी ने किया। गोष्ठी में डॉ. मुनीजा खान, वल्लभाचार्य, डॉ. स्वाति, नीता चौबे, सैय्यद मकसूद, लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, सुरेंद्र सिंह, संतोष कुमार, रामआसरे पटेल, रामजनम की भागीदारी उल्लेखनीय थी।

कैप्टन अब्बास अली

देश के बुजुर्ग समाजवादी नेता कैप्टन अब्बास अली का 92 वर्ष की वय में इस 11 अक्टूबर को निधन हो गया। उनका दीर्घ जीवन आजाद हिन्द फ़ौज में शामिल होने, मुलतान (अब पाकिस्तान में) किले में कारावास भुगतने, फाँसी की सजा पाने और देश के समाजवादी जनांदोलनों में बार–बार जेल जाने की घटनाओं से भरा–पूरा था। देश के आजाद होने पर वह समाजवादी आंदोलन से जुड़े तो अंत तक उससे जुड़े रहे।

1937–38 में अलीगढ़ विश्वविद्यालय में पढ़ने के दौरान वह इतिहासकार कुंवर मोहम्मद अशरफ के संपर्क में आए। आज से सत्तर–पचहत्तर वर्ष पहले अशरफ (के एम) देश के उन प्रखर बुद्धिजीवियों में एक माने जाते थे, जो राजनीति (आजादी के आंदोलन) में सक्रिय थे ; वह 1934 से 39 तक अ.भा. कांग्रेस के लोक संपर्क विभाग (मास कांटैक्ट सेल) के प्रधान थे। उनकी प्रेरणा से अब्बास अली स्टूडेंट फेडरेशन में शामिल हुए और फिर उन्हीं के कहने पर ब्रिटिश सेना में जूनियर कमीशंड अफसर के बतौर भरती हुए।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान मलाया (अब मलयेशिया) में जापान के युद्धबंदी रहने के दौरान ब्रिटिश फ़ौज से बगावत कर कैप्टन अब्बास अली नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की आजाद हिन्द फ़ौज में शामिल हो गए। 1945 में 'दिल्ली चलो' अभियान के दौरान इम्फाल के नजदीक ब्रिटिश फ़ौज ने उन्हें बंदी बना लिया और उन्हें सुदूर मुलतान (अब पकिस्तान में) के किले में कैद रखा। उनका कोर्ट मार्शल किया गया और उन्हें फाँसी की सजा दी गई। देश का विभाजन और आजादी मिलने के बाद वह मुलतान किले से रिहा किए गए।

कैप्टन अब्बास अली 1931 में भगत सिंह की फाँसी के वक्त से ही राष्ट्रीय विचारों से ओत–प्रोत हो गए थे। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में, जो 1930–40 के दशकों में मुस्लिम लीग का गढ़ बन गया था, वह लीग के छात्र संगठन से जुड़ने के बजाए स्टूडेंट्स फेडरेशन से जुड़े। देश का बंटवारा होने के बाद 1947 में उनका आधा परिवार पाकिस्तान चला गया पर मुस्लिम लीग के दो राष्ट्र सिद्धांत के विरोधी होने और अपनी जन्मभूमि से अपार लगाव के कारण वे पकिस्तान जा कर बसने की बात सोच भी नहीं सकते थे। वह भारत में ही रहे और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गए।

1948 में आचार्य नरेंद्र देव, जयप्रकाश नारायण और डा0 लोहिया ने कांग्रेस पार्टी छोड़कर सोशलिस्ट पार्टी बनाई तो वह उसके संस्थापक सदस्यों में थे। 1948 से 1977 तक समाजवादी सत्याग्रहों में भाग लेने पर वह अनगिनत बार जेल गए। जून 1975 में इमरजेंसी में मीसा के तहत 19 महीने कैद रहे। जनता पार्टी का गठन होने पर उन्हें उत्तर प्रदेश जनता पार्टी का अध्यक्ष बनाया गया। 1978 में वह उत्तर प्रदेश विधान परिषद के सदस्य निर्वाचित हुए।

1979 में जनता पार्टी की सरकार के पतन के बाद और 1980 में इंदिरा गाँधी के फिर से सत्ता में आने के बाद देश में कोई सोशलिस्ट पार्टी नहीं रह गई। पूर्व संसोपा और प्रसोपा के लोग इधर–उधर कई दलों में बिखर गए। यह कैप्टन अब्बास अली के लिए अपार दुख का समय था कि देश की राजनीति में समाजवाद के लिए संघर्ष करने वाली कोई पार्टी ही नहीं रही। कुछ वर्ष पहले एक इंटरव्यू के दौरान यह पूछे जाने पर कि क्या समाजवादी नेताओं के बीच एका कायम कर समाजवादी आंदोलन को ऊर्जा और गति प्रदान की जा सकती है, उनका उत्तर था कि दस तथाकथित बड़े नेताओं में एका कायम कर समाजवादी आंदोलन को मजबूत नहीं किया जा सकता; तथाकथित समाजवादी नेताओं ने तो अपनी पार्टियों को निजी और पारिवारिक पार्टी बना डाला है। समाजवादी विचारधारा से प्रतिबद्ध कार्यकर्ता ही समाजवादी आंदोलन को गति और ऊर्जा प्रदान कर सकते हैं।

मृत्यु से पाँच वर्ष पहले उनकी आत्मकथा 'न रहूँ किसी का दस्त–निगर : मेरा सफरनामा' (राजकमल प्रकाशन) प्रकाशित हुई, दस्तनिगर का अर्थ होता है –– दूसरों का मुंह ताकने वाला, दूसरों के सहारे जीवन व्यतीत करने वाला, मुखापेक्षी। कैप्टन अब्बास अली ने अपनी शर्तों पर अपनी समाजवादी जिंदगी गुजारी। 'वार्ता' उन्हें अपनी विनम्र श्रद्धांजलि देती है। ■

ज़र्ज़र नाव के लहरों से टकराने का जतन
प्रथम 'सुनील स्मृति प्रसंग' संपन्न

प्रशांत कुमार दुबे

समाजवादी जन परिषद (सजप) के राष्ट्रीय महामंत्री और सामाजिक चिंतक/विचारक सुनील का असमय जाना हम सभी के लिये एक दुःखद प्रसंग बनकर सामने आया। इस क्षति की भरपाई तो नहीं की जा सकती है पर उनके विचार/काम को रचनात्मक तरीके से कैसे जिया जा सकता है, उससे कोई सीख निकाली जा सकती है क्या? उनके विचारों को पल्लवित करने और जीने की कोई कोशिश की जा सकती है क्या? इस कोशिश का नाम है सुनील मेमोरियल ट्रस्ट। अपनी पहली ही यात्रा में इस ट्रस्ट ने सुनील स्मृति प्रसंग आयोजित किया। इस प्रसंग का विषय रखा गया, प्राकृतिक संसाधनः समता और संघर्ष। दिल्ली के जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) के जिस परिसर में सुनील ने विचारों को गढ़ना सीखा, पढ़ा और समझा उसी परिसर में सुनील के विचारों पर आधारित स्मृति व्याख्यान आयोजित किया जा रहा था। यह सुखद/दुखद था यह तो मैं कतई नहीं कह सकता हूँ, पर हाँ, विचारवान और उर्जावान अवश्य था।

इस विषय को हमारे सामने रखने के लिए आमंत्रित किया गया, उत्तराखंड के लेखक, इतिहासकार और अकादमिक जगत से जुड़े पद्मश्री शेखर पाठक को। विद्वान् वक्ता जब भी बात रखते हैं तो बगैर किसी लाग लपेट के और अपने आपको बौना सा साबित करके, जैसे वे कुछ जानते ही नहीं, तो शेखर जी ने भी यही किया। सुनील भाई की स्मृति को नमन करते हुए उन्होंने कहा कि जो काम सुनील भाई कर रहे थे, वैसा भी कर पाएं तो शायद यह जीवन धन्य हो जाए। उन्होंने सुनील भाई के तवा बाँध के प्रयोग को सराहा। उन्होंने कहा कि हम सब में जो दम नहीं था वह सुनील भाई में था और वह था अपनी जड़ों की ओर लौटने का। उन्होंने कहा कि जैसे सुनील ने ज्ञान समाज से सीखा, मैने भी कुछ ज्ञान और समझ हिमालय के साथ घूमते हुए विकसित किया है।

श्री पाठक ने विषय पर आते हुए कहा कि प्राकृतिक संसाधनों को मैं तीन 'ज' से समझता हूँ– जमीन/जल और जंगल। और यह भी उतना ही प्रासंगिक है कि जहाँ आदिम जनजाति है वहां पर केवल एक चीज को ही रेखांकित किया जा सकता है। वहां पर जंगल बहुत बचा है। जहां पर जंगल हैं, वहीं पर जमीन बची है और वहीं पर बचा है जल। यानी जो देश के सबसे पिछड़े इलाके कहे जाते हैं, देश के सबसे बहुमूल्य प्राकृतिक संसाधन वहीं पर हैं। जो संसाधन उनकी विशेषता थे, जो उनका गर्व थे, वही आज उनकी वंचितता का सबसे प्रमुख अस्त्र बनकर उभरे। आज वहीं पर पूरे कारपोरेट वर्ल्ड की नजर लगी हुई है। जहाँ सबसे ज्यादा संसाधन हैं, वहीं पर आज संघर्ष की स्थिति निर्मित हो रही है। आखिर ऐसा क्या है कि प्राकृतिक संसाधनों के केंद्र इन संघर्षों के निर्माण केन्द्र बन गए हैं, उन आदिम जनजातियों के निवास स्थान जो बरसों से इन्हें पाल/पोस रहे हैं।

कंपनियों को जंगल चाहिए/जमीन चाहिए, पानी चाहिए, पर क्यों? क्योंकि वे पानी उलीचना चाहते हैं, बेचने के लिए। उन्हें जमीन चाहिए क्योंकि उसके नीचे की प्रचुर प्राकृतिक संपदा पर उनकी, नजर है, उन्हें जंगल चाहिये क्योंकि जंगल ही वे स्त्रोत हैं जो कि आज धरती के फैफड़े हैं और कार्बन सोख रहे हैं। पर जिस नजर से ये वनवासी/आदिवासी कथित पिछड़े लोग इन संसाधनों को देखते हैं, क्या वैसी नजर से कार्पोरेट दुनिया भी देखती है? शायद नहीं। बल्कि शायद शब्द भी यहाँ से हटाना उचित होगा। वे केवल दोहन जानते हैं, किन्तु संरक्षण उनके शब्दकोश से नदारद है। पर आदिवासी/वनवासी/जंगलवासी पिछड़ों के शब्दकोश में संरक्षण के साथ उपयोग है। यह भी किसी पाठशाला का पाठ्यक्रम नहीं है बल्कि यह उन्होंने अपने परिवेश से ही सीखा है, और जीवन भर उसे निबाहते हैं। वे कहते हैं कि यह मिट्टी है जो हमें मिट्टी नहीं होने देती है जबकि कारपोरेट दुनिया का एक ही नारा है कि यह मिट्टी वह है जिसके नीचे माल दबा है, सोना है। वे कहते हैं कि यह जंगल अकेले जंगल

नहीं हैं बल्कि वे कहते हैं जंगल जीने का तरीका सिखाते हैं।जंगल हैं तो खेती है/ कुटीर उद्योग है/ रंग है/रसायन है/गीत है/ पशुधन है/ जैव विविधता है/ बरसात है/ पानी है, कुल मिलाकर जंगल है तो जीवन है।

इसी प्रकार जमीन है तो वह केवल एक टुकड़ा नहीं है वह गोचर है/श्मशान है/कब्रस्तान है/चारागाह है/गोठान है/ खेत है/ तालाब है/ नदी है/ झरने हैं/ यानी यह भी जीवन की एक कहानी है और उसके अलग-अलग पात्र हैं लेकिन उनके लिये (कारपोरेट जगत) यह जमीन वह है, जिस पर या तो खड़ी कर दो बिल्डिंग या फिर जिन पर चला दो बुलडोजर और टांक दो छाती के सीने पर कुछ और सितारे और फिर उलीच लो, उसके नीचे का सारा माल। यही नहीं, उलीच कर आगे बढ़ो, दूसरी जमीनों की ओर।

पाठक कहते हैं कि संसाधनों के इर्द-गिर्द जीवन का सूत्र स्थानीय जनों द्वारा कुछ ऐसे बुना गया है, कि वह एकात्म लगता है। आप एक दूसरे को अलग करके नहीं देख सकते हैं। समता का सूत्र उनके जीवन के सूत्र में ही निहित है। वे कहते हैं कि हमें यह नहीं भूलना चाहिये, जहाँ संसाधन रहे हैं, परंपरागत ज्ञान/हुनर वहीं पर विकसित हुए हैं। लकड़ी का हुनर/लोहे का हुनर/सुनारी का हुनर/शिकार का हुनर/ संरक्षण का हुनर आदि। जरा कल्पना तो करिए उस समय और समाज की, जब संसाधन तो होंगे पर उन पर उनका अधिकार नहीं होगा तो कहाँ जायेंगे वे लोग, कहाँ जायेंगे ये लोक हुनर, और कहाँ जायेगी वो संस्कृति, जो इनके यहाँ पर पल्लवित होती है, सब स्वतः लोप हो जायेगा। इसे मैं समझता हूँ कि हम अपने घर के गमले में पानी/खाद देते हैं तो वह खूब पनपता है, हमारी दिनचर्या बांधता है, अपने से जोड़कर बड़ा होते हमें देखता है और हम उसे, लेकिन जैसे ही हम उससे कुछ दिनों के लिए ही अलग होते हैं, वह या तो स्वयं मर जाता है या फिर हमें तज देता है।

उन्होंने कहा कि जो बात ज्यादा चिंताजनक है वह यह है कि आज की राजनीति की समस्त धाराओं में इन संसाधनों के संरक्षण की चिंता नहीं दिखाई देती है। बल्कि उनमें संरक्षण की समझ भी नहीं है और ना ही इतना बड़प्पन कि वे आदिम समूहों से सीख सकें। किसी भी दल की सरकार हो, वह संसाधनों को छीनने की कारपोरेट मंशाओं में शामिल है। सरकार, नियमों में हेरफेर कर प्रक्रियाओं को सुलभ बनाने में लगी रहती है। उनके सारे हित आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जलवायु परिवर्तन पर आज सारी पार्टियाँ/ दुनिया भर में गाल बजा रही हैं लेकिन यही नदी के प्राकृतिक अधिकार यानी बहने के अधिकार में ही खलल डाल रही है। आज की पीढ़ी अभिशप्त है नदियों को मरते देखने के लिए। सारी पार्टियाँ जंगल/जमीन की लूट में बराबर की भागीदार हैं।

पाठक की बात को जरा मध्यप्रदेश की वर्तमान दशा से समझें तो हम पाते हैं कि मध्यप्रदेश में अभी संसाधनों की लूट का जो खुला खेल चल रहा है, वह निराला है। प्रदेश सरकार एक बांध बनाती है, जिसे हम बरगी बांध के नाम से जानते हैं। उसका पानी सिंचाई के लिये तो ढंग से मिला नहीं, अपनी निर्धारित शर्तों को पूरा किया नहीं, और अब वहीं केन्द्र सरकार चुटका परमाणु संयंत्र लगाने जा रही है और अब सिंचाई का पानी इस परियोजना के लिये उपयोग में लाया जायेगा। यानी राज्य और केन्द्र दोनों सरकारें इस लूट की बराबरी की भागीदार हैं। प्रदेश के मुखिया शिवराज सिंह का हाल ही में इन्वेस्टर्स मीट के दौरान दिया गया यह बयान रही-सही कसर पूरी कर देता है जिसमें वे कहते हैं कि कंपनियां जहाँ उंगली रख देंगी, वह जमीन उन्हें दी जायेगी। यही सबसे बड़ी विडंबना और सवाल है कि यह जमीन/जंगल संसाधन हैं किसके, जो यह सरकार इस तरह से बांटने की कवायद कर रही है।

पाठक अंत में बहुत पते की बात कहते हैं कि आजकल चार कागजों को बिछाकर, उस पर झाडू लगाने को पार्टियाँ आतुर दिखाई देती हैं जबकि जरूरत इस बात की है कि इस तरह की प्राकृतिक संसाधनों की चोरी पर झाड़ू लगाई जाये, ताकि इस तरह की लूट से राज्य की आम जनता को बचाया जा सके। लूट के इस संघर्ष से दबाव बढ़ता है और संघर्ष करने के लिए जब लोग सामने आते हैं तो राज्य बहुत ही दूसरी भूमिका में सामने आता है। पर यह भी सच है कि संघर्ष में कमी नहीं आने देना चाहिये और हमें उस समतावादी दुनिया का सपना देखना नहीं छोड़ना चाहिए। उन्होंने दुष्यंत की पंक्तियों के साथ उम्मीद करते हुए युवाओं का आह्वान भी किया–

इस नदी की धार से, ठंडी हवा आती तो है।
नाव जर्जर ही सही, लहरों से टकराती तो है।
एक चिंगारी कहीं से, ढूंढ लाओ दोस्तों।
इस दिए में तेल से, भीगी हुई बाती तो है।

■

अशोक सेकसरिया भाषा के प्रति बेहद सजग थे

–सच्चिदानन्द सिन्हा

"अशोक सेकसरिया का भाषा के प्रति गहरा जुड़ाव था। उनका मानना था कि हमें भाषा के संस्कार को बचा कर रखना चाहिए। अशोक जी के मुताबिक केवल समता का भाव पर्याप्त नहीं है, व्यक्ति में सहानुभूति और करुणा भी अनिवार्य है। समाजवाद की परिभाषा समता और सम्पन्नता तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसमें मानवीय संवेदना भी सम्मिलित होनी चाहिए।''

उपर्युक्त बातें आज सच्चिदानंद सिन्हा ने अशोक सेकसरिया की स्मृति में आयोजित शोक सभा में कही।

वरिष्ठ समाजवादी कार्यकर्ता, विख्यात कथाकार, पत्रकार और सामयिक वार्ता के सम्पादक मंडल के सदस्य अशोक सेकसरिया की स्मृति में प्रो. उदय शंकर के अघोरिया बाजार स्थित आवास पर शशिकांत झा की अध्यक्षता में शोक सभा सम्पन्न हुई।

अशोक सेकसरिया के करीबी नवीन ने विस्तार से बताते हुए कहा कि अशोक सेकसरिया शिवपूजन सहाय की परम्परा के साहित्यकार थे। जिस तरह शिवपूजन सहाय ने प्रेमचन्द की रचनाओं को सजाया-सँवारा उसी तरह अशोक जी ने नवोदित साहित्यकारों की रचनाओं को परिमार्जित किया। अलका सरावगी की 'कलिकथा' और बेबी हालदार की 'आलो आंधारी' इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। नवीन ने बताया कि अशोकजी का कहानी संगरह 'लेखकी' शायद विश्व की पहली कृति होगी, जिसे प्रकाशन से पूर्व लेखक से छिपाया गया था। आत्म प्रचार से दूर अशोक सेकसरिया ने गुणीन्द्र सिंह कम्पनी के नाम से उम्दा कहानियाँ लिखीं, रामफ़ज़ल के नाम से खेल विषयक लेख लिखे। क्रिकेट पर उनकी एक अच्छी किताब है। मानवता उनमें कूट-कूट कर भरी थी।

अशोक सेकसरिया

जन्म : 16 अगस्त 1932

कार्यक्षेत्र : 50 के दशक से अन्तिम वर्षों से लेकर 60 के दशक के आरम्भिक वर्षों तक 'दैनिक हिन्दुस्तान' के सम्पादकीय विभाग में रहे। दिल्ली में ही ओमप्रकाश दीपक के साथ 'जन' मासिक का सम्पादन किया। कमलेश के सम्पादन में निकलने वाली पत्रिका 'समवाय' के मुख्य सहयोगी रहे। 'सामयिक वार्ता', 'दिनमान' आदि में लेख और टिप्पणियाँ प्रकाशित। संस्कृति, इतिहास, राजनीति, सम-सामयिक समस्याओं और जीवन की बहुविध धाराओं में गहरी रुचि।

विशेष : स्कूली-कालेजी शिक्षा कोलकाता में। वहीं जीवन का अधिकतर भाग बीता। क्रिकेट समेत अन्य खेलों में दिलचस्पी। खेल-पत्रकारिता के विशेषज्ञ।
अविवाहित।

रचनाएँ : लेखकीय (कहानी संग्रह), पिता श्री सीताराम सेकसरिया की डायरियों का 2 खण्डों में सम्पादन

निधन : 29 नवम्बर 2014

वरिष्ठ साहित्यकार नंदकिशोर नंदन ने बताया कि आत्म विज्ञापन से दूर रहकर लगातार समाज को देते रहने की प्रवृति अशोक जी में थी। प्रो0 अवधेश कुमार ने अशोकजी को संत परंपरा का बतलाया।

अध्यक्षीय वक्तव्य में शशिकांत झा ने बताया कि वे किताबों से दूर होते जाने की नौजवान पीढ़ी की मानसिकता से व्यथित रहते थे। संचालन जगत नारायण राय ने किया। शोक सभा में पी.यू.सी.एल. के राष्ट्रीय अध्यक्ष प्रो0 प्रभाकर सिन्हा, अरविन्द वरुण, राजेश्वर प्र. गुप्ता, प्रो. अनिल ओझा, राधेश्याम सिंह, मुकेश, कृष्णमोहन, डा0 प्रभात कुमार, सुप्रिया, अनिल गुप्ता, माले नेता सूरज कुमार सिंह, एस.यू.सी.आई. के जिलामंत्री अर्जुन कुमार व कामता प्रताप मुख्य रूप से उपस्थित थे।

अंत में दो मिनट का मौन रखकर अशोक सेकसरिया को श्रद्धांजलि दी गयी।

हमारे अशोक जी नहीं रहे

अशोकजी के अपने शब्दों में, 'एक अत्यंत संवेदनशील और असमान्य किस्म के व्यक्ति को स्थूल, साधारण और सार्वजनिक रुप में पाठकों को बताने की यहां चेष्टा की जा रही है।' यह बात अशोकजी ने समाजवादी चिन्तक ,लेखक और उनके मित्र ओमप्रकाश दीपक की मृत्यु के बाद लिखे संस्मरण में कही थी।

हमारे वरिष्ठ साथी अशोक सेकसरिया नहीं रहे । घर में फिसल कर गिर पड़े थे । कमर के पास की एक हड्डी के चार टुकड़े हो गए थे । इसकी सफल शल्य-क्रिया हुई परन्तु अस्पताल में ही हृदयाघात हुआ और 29 नवम्बर को उनकी मृत्यु हो गई ।

राममनोहर लोहिया के गुजरने के बाद 'जन' में उन्होंने ओमप्रकाश दीपक के संपादकत्व में काम किया। इस दौर में संसोपा के बड़े नेताओं के दंभ, झूठ और मिथ्या आत्म-प्रचार की लालसा से उनका सामना हुआ। अशोकजी ने इस पतनशील राजनैतिक संस्कृति या अपसंस्कृति पर लिखा भी । लाजमी तौर पर संसोपा के इन प्रमुख धड़ों से उनका नाता नहीं रहा और लोहिया विचार मंच , समता संगठन और समाजवादी जनपरिषद की धारा उन्हें रुचि ।

जयप्रकाश आन्दोलन के दौर में उन्होंने रमेश प्रसाद सिंह के साथ 'चौरंगी वार्ता' नामक पत्रिका 'चौरंगी की आम आदमी की भाषा' में निकाली । एक समय में यह जेपी आन्दोलन की प्रमुख पत्रिका थी। 37 साल पहले 'सामयिक वार्ता' को शुरु करने में उनकी मुख्य भूमिका थी । पिछले अंक में उन्होंने 20 -20 घण्टे लग कर सामयिक वार्ता के लिए अनुवाद किए, टिप्पणियां लिखीं और पुनर्लेखन भी किया। इस अंक के लिए भी जयराम के लेख का अनुवाद और नजरिया की दोनों टिप्पणियाँ अशोकजी ने ही लिखी हैं। इसके बाद भी भाव विभोर होकर वे यही कहते ,''हम चार-पाँच लोग मिलकर जितना काम कर रहे हैं वह (सुनील) अकेले करता था, दल के लिए दौरों के साथ-साथ। वह आदमी नहीं देवता था।'' खुद को शून्यवत कर लेना उनके लिए सहज था। जब भी उन्होंने वार्ता की जिम्मेदारी ली, हर अंक को प्रेम, साधना, पोषण दिया और हिफ़ाजत की । उनके जीवन की तरह उनकी भाषा सहज, सरल थी और इसीलिए असरकारक । संपर्क में आए लोगों के भीतर की सर्जनात्मकता को खिला देने का उनका जज्बा स्नेहपूर्ण था। हर व्यक्ति में सर्जनात्मकता है - इस बुनियादी यक़ीन के कारण वे श्रेष्ठ गुरु थे। उन्होंने कहा है, 'एक अच्छी पत्रिका हमेशा नए लेखकों को स्थान देती है।' अशोकजी ने हमेशा 'सामयिक वार्ता' के लिए पहली बार लिखने वाले अच्छे लेखकों की दिल से प्रशंसा की और उनके बारे में गहराई से जानना भी चाहा । इन लेखकों के बारे में जानने की इच्छा में उनकी यह मान्यता थी कि अच्छी पत्रिका के संपादक और लेखक के बीच अंतरंग संबंध होता है । उन्हें सीधे जिन लेखकों से लेख मिलते थे उनसे अन्य साथी भी बात कर लें , नाता कायम करें ,यह वे चाहते थे ।

उनके मित्र और आत्मीय - कवि, कला मर्मज्ञ,पत्रकार प्रयाग शुक्ल उन्हें 'गांधी तत्व' वाला व्यक्ति मानते हैं। सेवाग्राम और वर्धा में किशोरपन में बीते दिनों को वे अत्यन्त मूल्यवान मानते थे। वे जमनालाल बजाज की जीवनी लिखना चाहते थे और इसे लिखने की इच्छा को उन्होंने अपनी 'अपूर्ण लालसा' कहा था । बजाज-परिवार द्वारा लिखवाई गई और प्रकाशित जीवनी के होने के बावजूद उनकी यह लालसा थी।

वे खेल मर्मज्ञ थे और साठ के दशक के शुरुआती वर्षों में 'हिन्दुस्तान' में खेल पर लिखते थे। एशियाड के खिलाफ समता युवजन सभा ने जब आन्दोलन किया तब अशोकजी ने खेल के मर्म पर वार्ता में लेख माला लिखी। उपभोक्तावाद ने खेलों को जिस प्रकार से ग्रसित कर लिया है उससे वे उद्वेलित होते थे लेकिन यह उन्हें खेल-प्रेमी होने से नहीं रोकता था। उनकी मृत्यु के बाद उनके आत्मीय संजय भारती से मालूम हुआ कि वे खुद खिलाड़ी भी रहे। वे टेबल टेनिस के जूनियर संवर्ग में राष्ट्रीय स्तर के फाइनल तक पहुंचे थे।

अशोकजी का पत्रकारीय लेखन साहित्य की कोटि में आता है उसका महत्व सिर्फ तात्कालिक नहीं है। इंदिरा गांधी की हत्या के बाद सिख विरोधी हिंसा से आहत हो उन्होंने 'हिन्दू होने की पीड़ा' लिखी । खेलों पर खर्च और उसके व्यावसायीकरण के साथ खेल के मर्म को उन्होंने एक लम्बी लेख-माला में बखूबी समझा । कश्मीर के उलझे हुए सवाल को एक गवेषणात्मक लम्बे लेख में उन्होंने समझाया। उनकी कहानियों, कविताओं का मूल्यांकन करने का सामर्थ्य उनके साहित्यिक मित्रों में है।

उनके प्रांजल प्रेम की प्रसादी पाने वालों का दायरा बहुत बड़ा है। उनकी साधना की प्रेरणा अमर है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का यह पूजा-गीत कुछ दिनों से मन में गूंज रहा है :-

''कोन आलोते प्राणेर प्रदीप ज्वालिए तूमि धराए आशो –
साधक ओगो , प्रेमिक ओगो,
पागल ओगो, धराए आशो।।
एई अकूल संसारे
दुःख आघात तोमार प्राणे बीना झंकारे ।
घोर विपद – माझे
कोन जननीर मुखेर हांशी देखिया हांशो।।
तूमि काहार संधाने
शकल सुखे आगुन जेले बैड़ाओ के जाने !
एमन ब्याकुल करे
के तोमारे कांदाए जारे भालोबाशो।।
तोमार भाबना किछू नाई –
के जे तोमार साथेर साथी भाबि मने ताई ।
तूमि मरन भूले
कोन अनन्त प्राणसागरे आनन्दे भाशो ।।''

''प्राण-प्रदीप को किस प्रकाश से प्रज्वलित कर तुम धरा पर आते हो? ओ साधक, ओ प्रेमी, ओ पागल ! इस तटहीन संसार में दुःख-आघात तुम्हारी प्राण-वीणा में झंकृत होते हैं। घोर विपत्ति में भी किस मां के मुख की हंसी देख तुम भी हंस उठते हो? किस खोज में लगे हो तुम? सकल सुखों की अग्नि जलाकर कहां फिरते रहते हो? तुम्हें व्याकुल कर रुलाने वाला वह कौन है ,जिससे तुम प्रेम करते हो? तुम्हें कोई चिन्ता नहीं है। तुम्हारे कौन संगी-साथी हैं यह सोचता हूं। तुम मृत्यु को भुलाकर किस अनन्त प्राण-सागर में आन्दित हो बहते हो।''

–अफलातून

चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं दी महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित